CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

115

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

ॐ

4583

जिन-स्तोत्र-संग्रह

प्रेरणा :

आर्यिका विशालमति

प्रकाशक :

श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन पंचायत

मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याणमन्दिर स्तोत्र श्लोक ८ में

सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ।

उदयचन्द्र जैन
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

C0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGango

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन-स्तोत्र-संग्रह

प्रेरणा :

आर्यिका विशालमति

4583

प्रकाशक :

श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन पंचायत

मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनस्तोत्र - संग्रह

*
प्रेरणा–
आर्यिका विशालमति

*
प्रथमावृत्ति–
१०००

*
प्रकाशक–
श्री आदिनाथ दि० जैन पंचायत
मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

*
मूल्य–
पाठ/स्वाध्याय

*
प्राप्ति स्थल–
मन्त्री,
श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन पंचायत
मदनगंज–किशनगढ़ [राज०]

*
मुद्रक–
बाकलीवाल प्रिन्टर्स
मदनगंज–किशनगढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

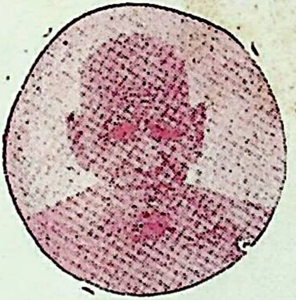

परमपूज्य आचार्य
श्री ज्ञानसागरजी महाराज

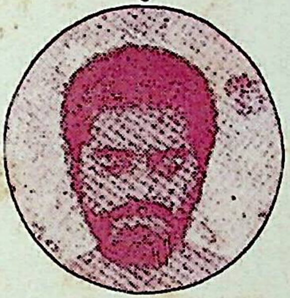

परमपूज्य आचार्य
श्री विद्यासागरजी महाराज

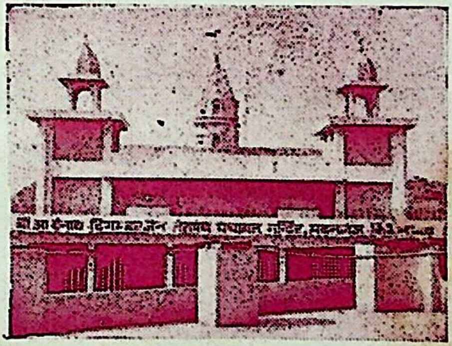

श्री आदिनाथ दि. जैन तेरापंथ पंचायत मन्दिर, मदनगंज

परमपूज्य आचार्यकल्प
श्री विवेकसागरजी महाराज

पूज्या आर्यिका
विशालमति माताजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेरणा को समर्पित
दो शब्द

जब तक यह जीव अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं होता तब तक इसके पूज्य-पूजक, आराध्य-आराधक और उपास्य-उपासक भाव नियम से बने रहते हैं। अपने परमाराध्य के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेकी अनेक विधियों में से स्तुति/स्तोत्र भी एक विधि है। 'णमो अरिहंताणं' आदि महामन्त्र इसी स्तुति-मार्ग का उद्घोष है। 'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' सत्पुरुष अपने प्रति किये गये उपकार को कदापि नहीं भूलते। कुन्दकुन्दाचार्य तथा पूज्यपाद स्वामी ने दशभक्तियों में तथा समन्तभद्र स्वामी ने वृहद्स्वयंभूस्तोत्र में स्तुति मार्ग प्रकट किया है।

सृष्टि में भटकते प्राणियों के हित के लिये, विषय-कषायों से बचने के लिये तथा भव स्थिति को सीमित करने के लिये भक्तिगंगा में निमग्न आचार्यों ने विशाल स्तोत्र साहित्य रचा है। इनमें सुप्रसिद्ध पंचस्तोत्र—भक्तामर, कल्याणमन्दिर, एकीभाव, विषापहार, जिनचतुर्विंशतिका—वृहत्स्वयंभू स्तोत्र—तो बड़े ही सुन्दर भाव समन्वित, भक्तिरससे परिपूर्ण हैं। समन्तभद्रस्वामीने स्तुति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य, तद् बहुत्वकथास्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥

विद्यमान अल्पगुणों का उल्लंघन करके उन गुणों की अधिकता का कथन करना स्तुति है। स्तुति का फल दर्शाते हुए कहा गया है—'स्तुति स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय सा तदा'। भगवान की स्तुति, स्तुति करने वाले भव्य पुरुषों के प्रशस्त परिणाम के लिए होती है।

स्तुति करने का आन्तरिक प्रयोजन गुण प्राप्ति 'तद्गुण-लब्धये' है। 'आराध्य के गुण मुझ आराधक को प्राप्त हों।' आराध्य के अनन्तगुणों का समावेश वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता इन तीन गुणों में हो जाता है। इन्हीं गुणों की उपलब्धि के लिये ज्ञानी जीव स्तुति करते हैं। किसी सांसारिक प्रयोजन के लिये की जाने वाली स्तुति सम्यक् स्तुति नहीं कही जा सकती।

पञ्च स्तोत्रों में जिनेन्द्र स्तवन के साथ-साथ जैनधर्म और दर्शन के मार्मिक सिद्धान्त भी अनुस्यूत हैं। पूज्य कुमुदचन्द्राचार्य 'कल्याणमन्दिर' में कहते हैं—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ॥८॥

जिनेन्द्रस्तुति मात्र पुण्यबन्ध का ही कारण नहीं है, अपितु इस स्तुति से प्राणियों के सघन कर्मबन्ध भी क्षण भर में शिथिलता को प्राप्त होते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥१३॥

क्रोध से अधिक सामर्थ्य क्षमा में है क्योंकि अग्नि मात्र शुष्क काष्ठ को ही जलाने में समर्थ है जबकि शिशिर ऋतु का शीत (हिम-ठण्डा तुषार) तो हरे-भरे वन को भी जलाने में समर्थ है।

सुख प्राप्ति के लिये किये गए विपरीत पुरुषार्थों के संबंध में 'विषापहार स्तोत्र' में कहा गया है—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान् धर्माय पापानि समाचरन्ति ।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥१३॥

जिस प्रकार बालक तेल के लिये बालू के समूह को पेलते हैं, ठीक उसी प्रकार आपके प्रतिकूल चलने वाले पुरुष सुख के लिये दुःखों को, गुण के लिये दोषों को और धर्म के लिये पापों का आचरण करते हैं। इस प्रकार ये पञ्चस्तोत्र वास्तव में पंच रत्न ही हैं।

इन स्तोत्रों के प्रकाशन की प्रेरणा परम पूज्य स्वर्गीय गुरुदेव विवेकसागरजी महाराज ने कुचामन समाज को दी थी परन्तु कतिपय कारणों वश इनका प्रकाशन तब सम्भव नहीं हुआ और आज इनके प्रकाशित होने पर पूज्य गुरुदेव हमारे बीच नहीं हैं। पूज्य गुरुवर्य ! जिनसे मुझे माँ का ममत्व और पिता का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुलार मिला, जिन्होंने संसारविच्छेदिनी आर्यिका दीक्षा और शिक्षा प्रदान कर मुझे कृतार्थ किया, १८ वर्ष तक मुनिव्रतों का निर्दोष पालन कर घोर तपश्चरण किया, साधना में तत्पर रहते हुए सल्लेखना मरण कर उस पर कलशारोहण किया, जो जन-जन के प्रेरणास्रोत व आदर्श बने; उन परम तपस्वी, मूलोत्तर-गुणनिष्ठ, दृढ़ चारित्रपालक, रत्नत्रयसाधक, आसनजयी आदर्श गुरुवर्य के चरणों में शत-शत नमन।

पूज्य गुरुदेव की समाधि के पश्चात् संघ का पहला वर्षा-योग मदनगंज—किशनगढ़ में हुआ। संघस्थ आर्यिकाश्री विज्ञान-मतीजी सात माह की लम्बी अवधि तक बहुत रुग्ण रहीं। यहां के श्रावक-श्राविकाओं ने श्रद्धा और भक्ति से आगमानुकूल वैया-वृत्ति कर अपने कर्त्तव्य का सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए पुण्य संचय किया है, इस भोगप्रधानयुग में यहां के श्रावक-श्राविकाओं की धर्म रुचि अत्यन्त सराहनीय है। प्रस्तुत संकलन का प्रकाशन भी इसी उदार समाज के सद्प्रयत्नों से हुआ है। इस समाज की देव-शास्त्र-गुरु भक्ति निरन्तर वर्धमान रहे, यही कामना और भावना है।

बाकलीवाल प्रिन्टर्स, मदनगंज ने इसका मुद्रण किया है। पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से पूर्व में भी आपने कई धार्मिक ग्रन्थों का मुद्रण किया है। प्रस्तुत संकलन की सुन्दर छपाई के लिये प्रेस मालिक और कर्मचारी सभी आशीर्वाद के पात्र हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन स्तोत्रों की आचार्यों और विद्वानों ने बड़ी सुन्दर संस्कृत टीकायें लिख कर संस्कृतज्ञों की रुचि को प्रोत्साहित किया है और हिन्दी टीकाकारों ने संक्षिप्त और सुन्दर अन्वयार्थ सहित भाषा टीका लिखकर हिंदी भाषी जनता का उपकार किया है। आशा है, स्तोत्रों को सीखने वाले युवक-युवतियों के लिये यह संकलन अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

इस संकलन के प्रकाशन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से सहयोग देने वाले सभी महानुभाव जिनभक्ति का अवलम्बन लें संसार सागर के पार पहुंचें, यही आशीर्वाद है।

--आर्यिका विशालमति

—卐—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक की ओर से

मदनगंज–किशनगढ़ के जैन समाज के इतिहास के वे स्वर्णिम दिन जब पूज्या आर्यिका विशालमतिजी ने ससंघ यहां वर्षायोग के निमित्त लगभग ५-६ माह प्रवास किया, धारणा एवं स्मृति के विषय वनते हुए हम सबको सदैव प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे। आर्यिका माताजीके व्यक्तित्व में ज्ञान एवं चारित्र का अनुपम संगम है। भगवान् कुन्दकुन्द द्वारा उपदिष्ट चारित्र की निर्दोष साधना तथा ज्ञानोपासना में प्रतिपल संलग्न माताजी की चर्या उत्कृष्ट है। आर्यिकाश्री की निरंतर ज्ञान, ध्यान एवं तप में लीनता प्रत्येक दर्शक को प्रेरणादायी मौन धर्मोपदेश देती है। संघस्थ अन्य आर्यिका माताएं एवं ब्रह्मचारिणी वहिनें भी इसीप्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपासना एवं शास्त्रानुकूल धर्माचरण में संलग्न रहती हैं। आर्यिकाश्री की अनुभव निःसृत वाणी श्रोताओं के हृदय को छूती है तथा मानस को झकझोर देती है। चेलना जाग्रति मण्डल की स्थापना एवं उसकी सदस्य महिलाओं द्वारा आयोजित विशिष्ट धार्मिक आयोजन पू० आर्यिकाजी की ही देन है। आज विचार आता है कि आचार्य गुरु ज्ञानसागर महाराज एवं दीक्षा गुरु विवेकसागर महाराज की स्वर्गस्थ आत्मायें अपनी सुयोग्य शिष्या आर्यिकाश्री की प्रगाढ श्रद्धा, उत्कट ज्ञान, निर्मल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र एवं उनके द्वारा हो रही सातिशय धर्म प्रभावनाको देखकर अवश्य सन्तुष्ट होंगी।

आर्यिकाश्री के प्रवचनों के माध्यम से हम जान पाये कि जैन-दर्शन में उपास्य के विशिष्ट स्वरूप के कारण उसकी उपासना पद्धति एवं उपासना के उद्देश्य भी विशिष्ट हैं। जैन उपास्य देव वीतराग एवं निर्ग्रंथ हैं। जहां वह बाह्य वैभव से निर्लिप्त है वहीं वह सम्पूर्ण आंतरिक/आत्मिक गुणों से युक्त है। दूसरी ओर कार्य कारण व्यवस्था के आधार पर वस्तु व्यवस्था में एवं सृष्टि संचालनमें उस उपास्य देव का कोई हस्त-क्षेप नहीं है। अतः ऐसे वीतराग उपास्य देव की उपासना का उद्देश्य बाह्य वैभव प्राप्ति अथवा तथा कथित सुखद-दुःखद घटनाओं के सद्भाव अभाव नहीं होकर आत्मगुणों की उपलब्धि ही है। यद्यपि आत्म स्वा-तन्त्र्य की विकसित दशा में आत्म भिन्न उपास्य देवादि का भी अवलम्बन छूटता जाता है तथापि चिरंतन परतन्त्र/विभाव दशा से छूटकर स्वतन्त्र/स्वभाव दशा प्राप्त करने का कार्यकारी उपाय अभ्यास दशा में आत्म-स्वातन्त्र्य को प्राप्त परमात्मा को आदर्श बनाकर उसकी गुणोपासना करते रहना ही है। उपासना का उद्देश्य उपास्य को आदर्श मानकर तदनुरूप आचरण कर स्वयं की स्वतन्त्रता का विकास करना है।

दृष्टि बदल जाने पर सृष्टि भी बदल जाती है। जिस समीचीन दृष्टि प्राप्त साधक को अपने वीतराग स्वभाव की प्रतीति हो जाती है वह स्वभावतः निरन्तर उस वीतराग स्वभाव को प्राप्त करने के प्रयास में मन से वीतराग देव के गुणों का स्मरण, वाणी से उनके गुणों की स्तुति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा आचरण में राग-द्वेष परित्यागरूप व्रतों में प्रवृत्ति करता है। उसका यह क्रम तब तक अबाध रूप से चलता रहता है जब तक कि वह स्वयं वीतराग नहीं हो जाता है।

. . . . . .

अस्तु देव स्तुति का साधक के आत्मिक विकास में मुख्य स्थान है। जैन साहित्य में प्रभावक आचार्यों द्वारा रचित स्तुति काव्य रूप अनेक स्तोत्र उपलब्ध हैं। इस काल के आद्य स्तुतिकार भगवान् समन्तभद्र ने अनेक स्तोत्रों की रचना की है जो जैन स्तुति साहित्य की अनुपम निधि है। भाषा अलंकार आदि काव्य गुणों की दृष्टि से तो वे स्तोत्र अनूठे हैं ही किंतु उनमें जो गम्भीर दार्शनिक तत्त्व विवेचन किया गया है वह उन्हें उच्च कोटि के दार्शनिक साहित्य के स्थान पर प्रतिष्ठित करा देता है। स्तुति मुख से गम्भीर दार्शनिक विवेचना आचार्य समन्तभद्र की विशिष्टता है जो पाठक को चिंतन की गहराइयों में उतारकर उपास्य के गुणों एवं देशना का तलस्पर्शी बोध करा देती है। ऐसे स्तोत्र निश्चय ही पाठक के उपयोग को उपास्य के प्रति एवं प्रकारांतर से आत्म स्वभाव के प्रति केन्द्रित करने की क्षमता रखते हैं। आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्रों में स्वयम्भू स्तोत्र अधिक प्रचलित है। विभिन्न आचार्यों कृत अन्य प्रचलित स्तोत्र पाठों में भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव, विषापहार एवं भूपाल चतुर्विंशतिका प्रमुख हैं।

. . .

आर्यिकाश्री कहती हैं कि इन स्तोत्रों का अर्थ चिंतन सहित पाठ रत्नत्रय की पुष्टि एवं संवृद्धि का सविशेष हेतु है। अभी इन स्तोत्रों की हिन्दी टीका की पुस्तक संभवतः उपलब्ध नहीं है। अस्तु आर्यिका माताजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की प्रेरणा पाकर किशनगढ़ की आदिनाथ दि० जैन पंचायत ने उक्त मुख्य ६ स्तोत्र पाठों के अन्वय व हिंदी टीका सहित पुस्तक के प्रकाशन का निर्णय किया और फलस्वरूप यह पुस्तक पाठकों के समक्ष है ।

पुस्तक के प्रकाशन में प्रेरक तो पू० आर्यिकाश्री एवं संघस्थ साध्वियों से प्राप्त जीवनदायी दिशा बोध है अतः हम संघ का जितना उपकार मानें थोड़ा है । इस प्रकाशन के सम्बन्ध में हमें डा० चेतनप्रकाश पाटनी से, जो हमारे अपने ही हैं, समय-समय पर मूल्यवान सुझाव प्राप्त होते रहे । उनके प्रति/अपनों के प्रति कैसे आभार व्यक्त करें ? बाकलीवाल प्रिन्टर्स को समय पर पुस्तक के मुद्रण के लिये हम धन्यवाद देते हैं ।

इस पुस्तक में प्रकाशित कल्याणकारी स्तोत्रों के पाठ के द्वारा पाठक रत्नत्रय के मार्ग पर आगे बढ़ेंगे ऐसा हमारा विश्वास है ।

मदनगंज–किशनगढ़ — **मूलचन्द लुहाड़िया**

दि० — अध्यक्ष

श्री आदिनाथ दि. जैन पंचायत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय - सूची

क्र. सं.	स्तोत्र पाठ	पृष्ठ संख्या
१.	भक्तामर स्तोत्र श्री आचार्य मानतुंग	१-५८
२.	कल्याण मंदिर स्तोत्र श्री कुमुदचन्द्राचार्य	१-५६
३.	एकीभाव स्तोत्र श्रीमद्वादिराज सूरि	१-४७
४.	विषापहार स्तोत्र महाकवि धनंजय	१-६४
५.	जिन चतुर्विंशतिका श्री भूपाल कवि	१-४६
६.	वृहत् स्वयंभू स्तोत्र श्री आचार्य समंतभद्र	१-८६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

卐 श्री वृषभाय नमः 卐

श्रीमानतुङ्गाचार्यविरचितम्

भक्तामरस्तोत्रम्

(श्रीआदिनाथस्तोत्रम्)

[वसन्ततिलका छन्द]

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥
यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

कविवर पं० गिरधर शर्मा नवरत्न-कृत हिन्दी-पद्यानुवाद ।

हैं भक्त-देव-नत मौलि-मणि प्रभाके,
उद्योत-कारक, विनाशक पापके हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधार जो भव-पयोधि पड़े जनोंके,
अच्छी तरा नम उन्हीं प्रभुके पदोंको ॥१॥

श्रीआदिनाथ विभुकी स्तुति मैं करूंगा,
की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्होंकी ।
अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय–चित्तहारी,
सुस्तोत्रसे सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥२॥

श्रीचन्द्रकीर्तिकृत संस्कृत टीका ।

प्रारिप्सितविघ्ननिवृत्तये स्वेष्टदेवतानमस्कारलक्षणं कृतं मंगलं स्तवरूपे ग्रन्थे निबध्नन्नाह—

टीका—भक्तामरेति । किलेति संभावनायां । अहमपि मानतुंगाचार्यः । तं प्रथमं जिनेन्द्रम् श्रीवृषभदेवं । स्तोष्ये स्तवनं करिष्यामीत्यर्थः । ष्टुञ् स्तुतावित्यस्य धातोः प्रयोगः किं कृत्वा ? जिनपादयुगमर्हच्चरणद्वन्द्वम् सम्यग्यथोक्तप्रकारेण नत्वा । जिनपादयोः युगं जिनपादयुगम् । कथंभूतं जिनपादयुगम् । भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्द्योतकं । भक्ताश्च तेऽमराः शतेन्द्रादयो देवास्तेषां प्रणता नम्रीभूता ये मौलयः किरीटास्तेषां मणयस्तेषां प्रभाः कान्तयस्तासाम् । उद्द्योतयतीति उद्द्योतकम् । पुनः कथंभूतम् ? दलितपापतमोवितानम् । दलितं पापान्येव तमांसि तेषां वितानं येन तत् । पुनः कथंभूतम् ? युगादावेतदवसर्पिणीकाले । भवजले–संसार-सागरे, पततां-निमज्जतां, जनानां-लोकानां, आलम्बनं-हस्तावलम्वन-मित्यर्थः । तं कम् ? यः भगवान् सुरलोकनाथैः शतेन्द्रादिभिः स्तोत्रैः स्तवनैः संस्तुतः । कथंभूतैः सुरलोकनाथैः । सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात् सकलं-समस्तं यद्वाङ्मयं तस्य तत्त्वबोधो-यथार्थज्ञानं तस्मात् । उद्भूतबुद्धिप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टुभिः उद्भूताः समुत्पन्ना या बुद्धयो मनीषास्ताभिः पटवो वाचालास्तैः। कथंभूतैः स्तोत्रैः जगत्त्रितयचित्तहरैः। जगतां त्रितयं तस्य चित्तानि मनांसि हरन्तीति तानि तैः। पुनरुदारैर्गंभीरैरित्यर्थः॥ १-२॥

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्रीकृत अन्वयार्थ भावार्थ।

अन्वयार्थ—(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्त देवोंके झुके हुए मुकुट सम्बन्धी रत्नोंकी कान्तिके (उद्योतकम्) प्रकाशक (दलितपापतमोवितानम्) पापरूपी अन्धकारके विस्तार को नष्ट करनेवाले और (युगादौ) युगके प्रारम्भमें (भवजले) संसाररूप जलमें (पतताम्) गिरते हुए (जनानाम्) प्राणियोंके (आलम्बनम्) आलम्बन—सहारे (जिनपादयुगम्) जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणोंको (सम्यक्) अच्छी तरहसे (प्रणम्य) प्रणाम करके (यः) जो (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) समस्त द्वादशांगके ज्ञानसे (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धिके द्वारा चतुर (सुरलोकनाथैः) इन्द्रोंके द्वारा (जगत्त्रितयचित्तहरैः) तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तको हरनेवाले और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंसे (संस्तुतः) स्तुत किये गये थे (तम्) उन (प्रथमम्) पहले (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र ऋषभनाथको (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चयसे (स्तोष्ये) स्तुति करूंगा।

भावार्थ—देवोंके द्वारा पूजित, पाप-समूहको नष्ट करने वाले और हितका उपदेश देकर प्राणियोंको संसार-समुद्रसे निकालनेवाले जिनेन्द्रभगवान्के चरणोंको नमस्कार कर मैं भी उन भगवान् ऋषभनाथकी स्तुति करूंगा, जिनकी कि स्तुति स्वर्गके इन्द्रोंने मनोहर स्तोत्रोंके द्वारा की थी॥१-२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

हूँ बुद्धिहीन फिर भी बुध-पूज्यपाद,
तैयार हूं स्तवनको निर्लज्ज होके ।
है और कौन जगमें तज बालको जो,
लेना चहे सलिल-संस्थित चन्द्र-बिम्ब ॥३॥

टीका—हे विबुधार्चितपादपीठ ! अहं मानतुंगः कविः । बुद्ध्या विनापि मतिहीनोऽपि । त्वां भगवन्तम् । स्तोतुं समुद्यतमतिर्वर्ते । विबुधैश्चतुर्णिकायाऽमरैः अर्चितं पूजितं पादयोः पीठं सिंहासनं यस्य स तस्यामंत्रणं । समुद्यता मतिर्यस्य सः । कथंभूतोऽहं विगता त्रपा लज्जा यस्य सः । बालं विहाय इति किं परित्यज्यान्यः को मतिमान्पुमान् । जलसंस्थितं जले प्रतिबिम्बीभूतमिन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलं । सहसा रभसा । ग्रहीतुमुपादातुम् । इच्छति वांछेत् न कोऽपीत्यर्थः ॥३॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितपादपीठ !) देवोंके द्वारा पूजित है पादपीठ—पैर रखनेकी चौकी जिनकी ऐसे हे जिनेन्द्र ! (विगतत्रपः) लज्जा—रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धिके विना भी (स्तोतुम्) स्तुति करनेके लिये (समुद्यतमतिः 'भवामि') तत्पर हो रहा हूं, सो ठीक ही है क्योंकि (बालम्) बालक—मूर्ख को (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः) कौन मनुष्य (जलसंस्थितम्) जलमें प्रतिबिम्बित (इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमण्डल को (सहसा) विना बिचारे (ग्रहीतुम्) पकड़नेको (इच्छति) इच्छा करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस तरह लज्जा रहित बालक जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है, उसी तरह लज्जा रहित मैं बुद्धिके बिना भी आपकी स्तुति करना चाहता हूं ।।३।।

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्धया ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ।।४।।

होवे वृहस्पति समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो गिन सके तव सद्गुणोंको ।
कल्पान्त-वायुवश सिन्धु अलंघ्य जो है,
हैं कौन जो तिर सके उसको भुजासे ।।४।।

टीका—भो गुणसमुद्र ! कः पुमान् । ते तव । गुणान् वक्तुम् यथार्थतया प्रतिपादयितुम् । क्षमः समर्थोऽस्ति । कथभूतः सन् ? बुद्धया कृत्वा सुरगुरुप्रतिमोऽपि सन् सुरगुरुणा बृहस्पतिना प्रतिमीयतेऽसौ । कथंभूतान् गुणान् ? शशांककान्तान् शशांकः शरच्चन्द्रस्तद्वत्कान्तान्मनोज्ञान् अथवा उज्ज्वलान् । स्वस्याशक्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति । वा इति पक्षान्तरे । कः पुमान् भुजाभ्यामम्बुनिधिं तरीतुमलं समर्थो भवति । न कोऽपीत्यर्थः । कथंभूतमम्बुनिधिं कल्पान्तकालस्य प्रलयकालस्य ये पवना वायवस्तैरुद्धता प्रकटोभूता ये नक्राः पाठीना मत्स्यादयो जीवास्तेषां समूहा यस्मिन् स तम् ।।४।।

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र !) हे गुणोंके समुद्र ! (बुद्धया) बुद्धिके द्वारा (सुरगुरुप्रतिमः अपि) बृहस्पतिके सदृश भी (कः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौन पुरुष (ते) आपके (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमाके समान सुन्दर(गुणान्)गुणोंको(वक्तुम्)कहनेके लिये(क्षमः) समर्थ हैं ? अर्थात् कोई नहीं । (वा) अथवा (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रम्) प्रलयकालकी वायुके द्वारा प्रचण्ड है मगर-मच्छोंका समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्रको (भुजाभ्याम्) भुजाओंके द्वारा (तरीतुम्) तैरनेके लिये (कः अलम्) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह प्रलयकालकी तीक्ष्ण वायु से लहराते और हिंसक जल-जन्तुओंसे भरे हुए समुद्रको कोई भुजाओंसे नहीं तैर सकता, उसी तरह कोई मनुष्य अत्यन्त बुद्धिमान् होने पर भी आपके निर्मल गुणोंका वर्णन नहीं कर सकता ।। ४ ।।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ।।५।।

हूं शक्तिहीन फिर भी करने लगा हूं,
तेरी प्रभो, स्तुति हुआ वश भक्तिके मैं ।
क्या मोहके वश हुआ शिशुको बचाने,
है सामना न करता मृग सिंहका भी ।।५।।

टीका—हे मुनीश्वर, भो योगीश्वर ! सोऽहं मानतुंगाचार्यः । तथापि तथाविधः सन् । तव परमेश्वरस्य । भक्तिवशात् भक्त्या लीनः सन् । विगतशक्तिरपि स्तवं कर्तुमुद्यतः प्रवृत्तः । विगता शक्तिरस्य । स्वस्य धाष्टर्यतां दृष्टान्तेन द्रढयति । मृगो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिणः । प्रीत्या स्नेहेन । आत्मवीर्यं स्वपराक्रममविचार्य । निज-शिशोः स्वसन्तानस्य । परिपालनार्थं रक्षार्थं । मृगेन्द्रं सिंहं । किन्नाभ्येति, किन्न सम्मुखीभवति ? अपि तु सम्मुखीभवतीत्यर्थः ।।५।।

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश ! (तथापि) तो भी (सः अहम्) मैं–अल्पज्ञ (विगतशक्तिः अपि 'सन्') शक्ति रहित होता हुआ भी (भक्तिवशात्) भक्ति के वशसे (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति (कर्तुम्) करनेके लिये (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूँ, (मृगः) हरिण (आत्मवीर्यम् अविचार्य) अपनी शक्तिका विचार न कर केवल (प्रीत्या) प्रेमके द्वारा (निजशिशोः) अपने बच्चे कों (परिपालनार्थम्) रक्षाके लिये (किम्) क्या (मृगेन्द्रम् न अभ्येति) सिंहके सामने नहीं जाता ? अर्थात् जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह हरिण शक्ति न रहते हुए भी मात्र प्रीतिसे बच्चेकी रक्षाके लिये सिंहका सामना करता है, उसी तरह मैं भी शक्ति न होने पर भी सिर्फ भक्तिसे आपका स्तवन करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।।५।।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु ।। ६ ।।

हूं अल्पबुद्धि बुध–मानवकी हंसीका,
हूं पात्र, भक्ति तव है मुझको बुलाती ।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधूमें,
है हेतु आम्र–कलिका बस एक उसका ।।६।।

टीका—भो सर्वज्ञ ! त्वद्भक्तिरेव बलात्प्रसह्य । मां मान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुंगाचार्यं। मुखरीकुरुते वाचालयतीत्यर्थः। कथंभूतं मामल्पश्रुतं शास्त्रं यस्य स तम्। पुनः कथंभूतं माम्? श्रुतवतां पण्डितानां मध्ये। परिहासस्य धाम गृहं हासस्य भाजनं। अजहल्लिंगत्वादेवं। अन्यथा परिहासधामानं पुल्लिंगे भवति। स्वस्योत्साहतां दृष्टान्तेन द्रढयति। किल इति सत्ये। यत्कोकिलो मधौ वसन्ते। मधुरं विरौति ब्रूते। तत् चारवः मनोज्ञा या आम्रकलिका आम्रमञ्जर्यस्तासां निकरः स एव एकहेतुर्यस्य तत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव (श्रुतवताम्) विद्वानोंकी (परिहासधाम) हंसीके स्थानस्वरूप (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः एवं) आपकी भक्ति ही (बलात्) जबरन (मुखरीकुरुते) वाचाल कर रही है। (किल) निश्चयसे (मधौ) वसन्त ऋतुमें (कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत्) वह (आम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु) आम की सुन्दर मञ्जरीके समूह के कारण ही करती है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस तरह मूर्ख कोयल वसन्त ऋतुमें आम्र-मञ्जरीके कारण मीठ-मीठे शब्द बोलने लगती है, उसी तरह मैं भी अल्पज्ञानी होता हुआ भी मात्र भक्तिसे आपकी स्तुति कर रहा हूं ॥६॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पाप क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

तेरी किये स्तुति विभो बहु जन्मके भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्यके हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भौंरे समान अति श्यामल ज्यों अंधेरा,
होता विनाश रविके करसे निशाका ॥७॥

टीका—भो नाथ ! त्वत्संस्तवेन कृत्वा । शरीरभाजां प्राणिनां । भवसन्ततिसन्निबद्धं नानाजन्मान्तरनिबद्धं । पापं क्षणात् क्षणमात्रेण । क्षयं ध्वंसं । उपैति प्राप्नोति । भवानां सन्ततिः श्रेणिस्तया सन्निबद्धं । स्वस्य स्तवनमाहात्म्यं दृष्टान्तेन द्रढयति । किमिव शार्वरमन्धकारमिव । यथा शार्वरं रात्रि-सम्बन्धि अन्धकारं । सूर्यांशुभिर्भिन्नं । तत्तु आशु शीघ्रं अशेषं समग्रं क्षयं याति । कथंभूतमन्धकारं । आक्रान्ताः पीडिता लोका येन तत् । पुनरलयो भ्रमरास्तद्वन्नीलं ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुतिसे (शरीरभाजाम्) प्राणियोंके (भवसन्ततिसन्निबद्धम्) अनेक भवोंके बंधे हुए (पापम्) पापकर्म, (आक्रान्तलोकम्) सम्पूर्ण लोकमें फैले हुए, (अलिनीलम्) भौंरोंके समान काले (सूर्यांशुभिन्नम्) सूर्यकी किरणोंसे खण्डित (शार्वरम्) रात्रि सम्बन्धी (अशेषम्) समस्त (अन्धकारम् इव) अन्धकारकी तरह (क्षणात्) क्षणभरमें (आशु) शीघ्र ही (क्षयम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाते हैं ॥७॥

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्यकी किरणोंके द्वारा रात्रिका समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपके स्तोत्रसे प्राणियोंके जन्म-जन्ममें एकत्रित हुए पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यों मान की स्तुति शुरू मुक्त अल्पधीनें,
तेरे प्रभाव-वश नाथ वहो हरेगी ।
सल्लोकके हृदयकी जल-बिन्दु भी तो,
मोती समान नलिनी-दलपै सुहाते ॥८॥

टीका—मत्वेति मत्वा मनसेत्यवबुद्धय । इदं प्रसिद्धं । तव संस्तवनं प्रारभ्यते । कथंभूतेन मया तन्वी स्वल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स तेन । तथापि तव प्रभावाद्भगवन्माहात्म्यात् । सतां सत्पुरुषाणां । चेतो हरिष्यति । ननु निश्चितं । उदबिन्दुर्जलकणः । नलिनीदलेषु कमलिनीपत्रेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिं दीप्तिमुपैति प्राप्नोति नलिनीनां दलानि नलिनीदलानि तेषु । मुक्ताफलस्य द्युतिर्मुक्ताफलद्युतिस्ताम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (इति मत्वा) ऐसा मानकर (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्दबुद्धिके द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है । जोकि (तव प्रभावात्) आपके प्रभावसे (सताम्) सज्जनोंके (चेतः) चित्तको (हरिष्यति) हरेगा । (ननु) निश्चय से (उदबिन्दुः) पानीकी बूंद (नलिनीदलेषु) कमलिनीके पत्तों पर (मुक्ताफलद्युतिम्) मोती जैसी कान्तिको (उपैति) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह कमलिनीके पत्र पर पड़ी हुई पानीकी बूंदें मोतीकी तरह सुन्दर दिखकर लोगोंके चित्तको हरती हैं, उसी तरह मुझ अल्पज्ञके द्वारा की हुई स्तुति भी आपके प्रभावसे सज्जनों के चित्तको हरेगी ॥८॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूरे सहस्रकिरणः *कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

दुर्दोष दूर तव हो स्तुतिका बनाना,
तेरी कथा तक हरे जगके अघोंको।
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनको सरोंमें ॥९॥

टीका—भो नाथ ! तव परमेश्वरस्य। स्तवनं दूरे आस्तां तिष्ठतु। त्वत्संकथाऽपि भागवती वार्ताऽपि। जगतां लोकानां। दुरितानि पापानि। हन्ति स्फुटयति। तव सम्यग्भूता कथा त्वत्संकथा। कथंभत स्तवनं ? अस्ता निर्गताः समस्ता दोषा यस्य तत्। सहस्रकिरणः सहस्ररश्मिः दूरे वर्तते तस्य। प्रभैव पद्माकरेषु सरसीषु। जलजानि कमलानि। विकासभांजि विकचानि कुरुते विदधातीत्यर्थः। विकासं भजन्ति तानि विकासभांजि। यस्य प्रभाया एतादृक् माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टं तस्य सहस्रकिरणस्यका कथा! एवं यस्य कथायाः सकाशादेतादृक् माहात्म्यं तस्य स्तवनस्य काकथा? भगवतः स्तवनस्य माहात्म्यं सर्वोत्कृष्टम् इति भावः।९।

अन्वयार्थ—(अस्तसमस्तदोषम्) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित (तव स्तवनम्) आपका स्तवन (आस्ताम्)दूर रहे, किन्तु (त्वत्संकथा अपि) आपकी पवित्र कथा भी (जगताम्) जगतके जीवोंके (दुरितानि) पापोंको (हन्ति) नष्ट कर देती है। (सहस्रकिरणः) सूर्य (दूरे 'अस्ति') दूर रहता है, पर उसकी (प्रभा एव) प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालाबोंमें (जलजानि) कमलोंको (विकासभांजि) विकसित (कुरुते) कर देती है।

---

*सहस्रकिरणपक्षे लिङ्गं परिवर्त्य 'अस्तसमस्तदोषम्' इत्यस्य अस्ता समस्ता दोषा रात्रिर्येन तत्राभूत इत्यर्थो बोध्यः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—प्रभो ! आपके निर्दोष स्तवनमें तो अनन्त शक्ति है ही, पर आपकी पवित्र चर्चामें भी जीवोंके पाप नष्ट करने की सामर्थ्य है। जैसे कि सूर्यके दूर रहने पर भी उसकी उज्ज्वल किरणोंमें कमलोंको विकसित करनेकी सामर्थ्य रहती है ॥ ९ ॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

आश्चर्य क्या ? भुवनरत्न भले गुणोंसे,
तेरी किये स्तुति बनें तुझसे मनुष्य ।
क्या काम है जगतमें उन मालिकोंका,
जो आत्मतुल्य न करें निज आश्रितोंको ॥१०॥

टीका—हे भुवनभूषण ! हे भूतनाथ ! भूतैः सत्यैर्गुणैः। भुवि पृथिव्यां। भवन्तं परमेश्वरं। अभिष्टुवन्तः पुमांसः। भवतस्तव। तुल्याः समाना भवन्ति। न अत्यद्भुतं महाश्चर्यं न। भुवनानां भूषणं भुवनभूषणं तस्यामन्त्रणे। भूतानां प्राणिनां नाथ। अथवा भूतानां देवानां नाथ तस्य सम्बोधने। अभि समन्तात् स्तुवति इत्यभिष्टुवन्तः। वा अथवा। ननु निश्चितं। यः पुमान्। इह पृथिव्यामाश्रितं जनं। भूत्या स्वसमृद्धया। आत्मसमं न करोति स्वतुल्यं न विदधाति। तेन स्वामिना किं कार्यं भवति ? अपि तु न भवतीत्यर्थः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भुवनभूषण !) हे संसारके भूषण ! (भूतनाथ !) हे प्राणियोंके स्वामी ! (भूतैः) सच्चे (गुणैः) गुणोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा (भवन्तम् अभिष्टुवन्तः) आपकी स्तुति करनेवाले पुरुष (भुवि) पृथिवी पर (भवतः) आपके (तुल्याः) बराबर (भवन्ति) हो जाते हैं, ('इदम्' अत्यद्भुतम् न) यह भारी आश्चर्यकी बात नहीं है, (वा) अथवा (तेन) उस स्वामीसे (किम्) क्या प्रयोजन है ? (यः) जो (इह) इस लोकमें (आश्रितम्) अपने आधीन पुरुषको (भूत्या) सम्पत्तिके द्वारा (आत्मसमम्) अपने बराबर (न करोति) नहीं करता ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! जिस तरह उत्तम मालिक अपने सेवकको सम्पत्ति देकर अपने समान बना लेता है, उसी तरह आप भी अपने भक्तको अपने समान शुद्ध बना लेते हैं ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥११॥

अत्यन्त सुन्दर विभो, तुझको विलोक,
अन्यत्र आंख लगती नहिं मानवोंकी ।
क्षीराब्धिका मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधिका जल कौन खारा ? ॥११॥

टीका—भो नाथ ! जनस्य सम्यक्त्वधारिणो लोकस्य । चक्षुर्नेत्रं । भवन्तं भगवन्तं । दृष्ट्वान्यत्र हरिहरादिषु देवेषु । तोषं प्रमोदं । न उपयाति न व्रजति । चक्षुरित्यर्थे जात्यपेक्षयैक-वचनं । कथंभूतं भवन्तं ? अनिमेषेण विलोकनीयः अनिमेषविलो-कनीयस्तं । कः पुमान् शशिकरद्युतिदुग्धसिंधोः क्षीरसमुद्रस्य पयः पीत्वा, जलनिधेः क्षारसमुद्रस्य क्षारं जलं । रसितुमास्वादितुं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छेत् वांच्छेत् ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ।।११।।

अन्वयार्थ—(अनिमेषविलोकनीयम्) बिना पलक झपाये-एकटक देखनेके योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर (जनस्य) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी जगह (तोषम्) सन्तोषको (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते। (दुग्धसिन्धोः) क्षीरसमुद्रके (शशिकरद्युति) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले (पयः) पानीको (पीत्वा) पीकर (कः) कौन पुरुष (जलनिधेः) समुद्रके (क्षारम्) खारे (जलम्) पानीको (रसितुम् इच्छेत्) स्वाद लेना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह क्षीरसमुद्रके निर्मल जलको पीनेवाला मनुष्य अन्य समुद्रके खारे पानीको पीनेकी इच्छा नहीं करता, उसी तरह आपके सुन्दर रूपको देखनेवाले मनुष्य किसी दूसरे सुन्दर पदार्थको नहीं देखना चाहते। आप सबसे अधिक सुन्दर हैं ।। ११ ।।

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।। १२ ।।

जो शान्तिके सुपरमाणु प्रभो, तनूमें,
तेरे लगे जगतमें उतने वही थे।
सौन्दर्य-सार, जगदीश्वर चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहिं रूप कोई ।। १२ ।।

टीका—भो त्रिभुवनैकललामभूत ! यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिः कृत्वा। त्वं भवान्। निर्मापित उत्पादितः। खलु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चितं । तेप्यरणवः पृथिव्यां तावन्त एव विद्यन्ते । कुतो हेतोः? यद्यस्मात्कारणात् ते तव । समानं सदृशं । परं रूपं न ह्यस्ति । शान्ता उपशमं प्राप्ता रागाणां इति रागद्वेषादीनां रुचय इच्छा येषान्ते तैः । त्रिभुवनस्य मध्ये योऽद्वितीयः ललामभूतो रत्नसमान-स्त्रिभुवनैकललामभूतस्तस्यामंत्रणे ॥१२॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत !) हे त्रिभुवनके एक आभूषण ! (त्वम्) आप (यैः) जिन (शान्तरागरुचिभिः) शान्त होगई है रागादि दोषोंकी इच्छा जिनकी ऐसे (परमाणुभिः) परमाणुओंके द्वारा (निर्मापितः) रचे गये हैं (खलु) निश्चयसे (पृथिव्याम्) पृथिवीपर (ते अरणवः अपि) वे अणु भी (तावन्तः एव 'बभूवुः') उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्)आपके समान (अपरम्) दूसरा (रूपम्) रूप (नहि) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिन परमाणुओंसे आपकी रचना हुई है, मालुम होता है कि वे परमाणु उतने ही थे । यदि उससे अधिक होते तो आपके समान दूसरा रूप भी होना चाहिए था, पर दूसरा रूप है नहीं, इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे उतने ही थे । भगवन् ! आप अद्वितीय सुन्दर हैं ॥ १२ ॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
नि:शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिंबं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

तेरा कहां मुख सुरादिक नेत्ररम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यों ही कलंकित कहां वह चन्द्रबिम्ब !
जो हो पड़े दिवसमें द्युतिहीन फीका ।।१३।।

टीका—भो नाथ ! द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः। ते तव परमेश्वरस्य वक्त्रं क्व ? इदं प्रसिद्धं निशाकरस्य चन्द्रबिम्बं क्व ? कथंभूतं वक्त्रं ? सुराश्च नराश्चोरगाश्च सुरनरोरगास्तेषां नेत्राणि हरतीति सुरनरोरगनेत्रहारि। पुनः निःशेषाणि समग्राणि निर्जितानि जगतां त्रितयस्य उपमानानि येन तत्। कथंभूतं चन्द्रबिम्बं। कलंकेन मलिनं। यच्चन्द्रबिम्बं। वासरे दिवसे। पाण्डुपलाशकल्पं भवति। पलाशस्य पत्रं पलाशं। पाण्डु च तत्पलाशं च पाण्डुपलाशं पाण्डुपलाशादिषन्नूनं पाण्डुपलाशकल्पं ।।१३।।

अन्वयार्थ—(सुरनरोरगनेत्रहारि) देव, मनुष्य, तथा धरणेन्द्रके नेत्रोंको हरण करनेवाला एवं (निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्) सम्पूर्ण रूपसे जीत लिया है तीनों जगतकी उपमाओंको जिसने ऐसा (ते वक्त्रम्) आपका मुख (क्व) कहां ? और (कलंकमलिनम्) कलंकसे मलीन (निशाकरस्य) चन्द्रमाका ('तद् बिम्बम्) वह मण्डल (क्व) कहां ? (यत्) जो (वासरे) दिनमें (पलाशकल्पम्) ढाकके पत्ते की तरह (पाण्डु) फीका (भवति) हो जाता है।

भावार्थ—नाथ ! जो लोग आपके मुखको चन्द्रमा की उपमा देते हैं, वे गलती करते हैं। क्योंकि आपके मुखकी शोभा कभी नष्ट नहीं होती और चन्द्रमाकी शोभा दिनमें नष्ट हो जाती है, इसके अतिरिक्त वह कलंकी है, और आपका मुख कलंक रहित है ।।१३।।

सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप,
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

अत्यन्त सुन्दर कलानिधिकी कलासे,
तेरे मनोज्ञ गुणनाथ फिरें जगोंमें।
है आसरा त्रिजगदीश्वरका जिन्होंको,
रोके उन्हें त्रिजगमें फिरते न कोई ॥१४॥

टीका– भो परमेश्वर ! तव परमेश्वरस्य गुणास्त्रिभुवनं लंघयन्ति । ये गुणा एक त्रिजगदीश्वरनाथमिन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिस्वामिनं । संश्रिता आश्रिताः । कः पुमान् तान् गुणान् यथेष्टं संचरतो निवारयति निवारयितुं शक्तो भवति । त्रयाणां जगतामीश्वरास्तेषां नाथस्त्वं । कथंभूता गुणाः । सम्पूर्णं मण्डलं यस्य स एवंविधश्चासौ शशांकश्च सम्पूर्णमण्डलशशांकस्तस्य कलास्तासां कलापः समूहस्तद्वत् शुभ्रा उज्ज्वला इत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप शुभ्राः) पूर्णचन्द्रबिम्बकी कलाओंके समूहके समान स्वच्छ (तव) आपके (गुणाः) गुण (त्रिभुवनम्) तीन लोकोंको (लंघयन्ति) लाँघ रहे हैं–सब जगह फैले हुए हैं सो ठीक ही है, क्योंकि (ये) जो (एकम्) मुख्य(त्रिजगदीश्वरनाथम्)तीनों लोकोंके नाथोंके नाथके(संश्रिताः) आश्रित हैं,(तान्) उन्हें (यथेष्टम्) इच्छानुसार (संचरतः 'सतः') घूमते हुए (कः) कौन (निवारयति) रोकता है ? कोई नहीं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी राजाधिराजके आश्रित रहनेवाले पुरुषोंको इच्छानुसार जहां तहां घूमते रहते कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आपके आश्रित रहने वाले कीर्ति आदि गुणोंको तीनों लोकोंमें कोई नहीं रोक सकता। आपके गुण सब जगह फैले हुए हैं ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलित कदाचित् ॥१५॥

देवाङ्गना हर सकीं मनको न तेरे,
आश्चर्य नाथ ! उसमें कुछ भी नहीं है ।
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ? ॥१५॥

टीका—भो परमेश्वर ! यदि चेत् । त्रिदशांगनाभिर्देवाप्सरोभिः । ते तव भगवतो मनः । मनागपि किंचिदपि । विकारमार्गं न नीतं न प्रापितं । तर्हि अत्र किं चित्रं किमाश्चर्यं ? त्रिदशानां देवानामंगनास्त्रिदशांगनास्ताभिः । कुतः कारणात्? कल्पान्तकालमरुता प्रलयकालवायुना । किं मन्दराद्रिशिखरं मेरुशृङ्गं । कदाचित् चलितं कंपितं ? अपि तु न कंपितमित्यर्थः । कल्पान्तकालस्य मरुत् कल्पान्तकालमरुत्तेन । मन्दराद्रेः शिखरं मन्दराद्रिशिखरं कथंभूतेन कल्पान्तकालमरुता ? चलिता विधूता अचलाः पर्वता येन स तेन ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (ते) आपका (मनः) मन (त्रिदशाङ्गनाभिः) देवाङ्गनाओंके द्वारा (मनाक् अपि) थोड़े भी (विकारमार्गम्) विकारभावको (न नीतम्) प्राप्त नहीं कराया जा सका है, (तर्हि) तो (अत्र) इस विषयमें (चित्रम् किम्) आश्चर्य ही क्या है ? (चलिताचलेन) पहाड़ोंको हिला देनेवाली (कल्पांतकालमरुता) प्रलयकालकी पवनके द्वारा (किम्) क्या (कदाचित्) कभी (मन्दराद्रिशिखरम्) मेरुपर्वतका शिखर (चलितम्) हिलाया गया है ? अर्थात् नहीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह प्रलयकालकी प्रचण्ड पवन के द्वारा मेरु पर्वत नहीं हिलाया जासकता, उसी तरह देवाङ्ग-नाओंके हावभावों द्वारा आपका मन-सुमेरु भी नहीं हिलाया जा सकता। आपका धैर्य अतुल है, और आपने मनको अपने वश कर लिया है ॥१५॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

बत्ती नहीं नहिं धुआँ नहिं तैलपूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है।
सारे त्रिलोक बिच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो द्युतिकारि तू है ॥१६॥

टीका—भो नाथ ! त्वं जगन्मण्डलेऽपूर्वं अपरः कश्चन दीपः। असि वर्तसे। कुतो हेतोः ? यत् इदं कृत्स्नं जगत्त्रयं युग-पत्प्रकटीकरोषि उद्योतयसीत्यर्थः। कथंभूतस्तवलक्षणो दीपः ? धूमश्च वर्तिश्च धूमवर्ती धूमवर्तिभ्यां निष्क्रान्तो निर्धूमवर्तिः। पुनः कथंभूतः ? अपवर्जितो निराकृतस्तैलपूरो येन सः। पुनः कथंभूतः ? जातु कदाचिन्मरुतां गम्यो न मरुता न दनीध्वस्यसे इत्यर्थः। कथंभूतानां मरुतां ? चलिता अचला अद्रयो यैस्तेषां। पुनः कथंभूता ? जगति त्रिभुवने प्रकाशो यस्य स दीपः सधूमवर्तिः पुनर्युक्ततैलपूरः। पुनः कथंभूतः ? एकं गृहं प्रकटीकरोति स तु मरुतां वायूनां गम्यः स तु गृहप्रकाशकः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! आप (निर्धूमवर्तिः) धुआं तथा बत्तीसे रहित निर्दोष प्रवृत्तिवाले और (अपवर्जिततैल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूरः) तैलसे शून्य (भूत्वा अपि) होकर भी (इदम्) इस (कृत्स्नम्) समस्त (जगत्त्रयम्) त्रिभुवनको (प्रकटीकरोषि) प्रकाशित कर रहे हो तथा (चलिताचलानाम्) पहाड़ोंको हिला देनेवाली(मरुताम्)वायुके भी (जातु) कभी (गम्यः न) गम्य नहीं हो-वायु बुझा नहीं सकती। इस तरह (त्वम्) आप(जगत्प्रकाशः) संसारको प्रकाशित करनेवाले (अपरः दीपः) अपूर्व दीपक (असि) हो।

भावार्थ—हे नाथ ! आप समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले अनोखे दीपक हैं, क्योंकि अन्य दीपकोंकी बत्तीसे धुआँ निकलता रहता है, पर आपकी वर्ति-मार्ग निर्धूम-पाप रहित है। अन्य दीपक तेलकी सहायतासे प्रकाश फैलाते हैं, पर आप बिना किसीकी सहयताके ही प्रकाश-ज्ञान फैलाते हैं। अन्य दीपक हवासे नष्ट हो जाते हैं, पर आप अविनाशी हैं। तथा अन्य दीपक थोड़ीसी जगहको प्रकाशित करते हैं, पर आप समस्त लोकको प्रकाशित करते हैं ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

तू हो न अस्त, तुझको गहता न राहू,
पाते प्रकाश तुझसे जग एकसाथ ।
तेरा प्रभाव रुकता नहिं बादलोंसे,
तू सूर्यसे अधिक है महिमा-निधान ॥१७॥

टीका—भो मुनीन्द्र ! मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामिंद्रस्तस्यामंत्रणे। लोके पृथिव्यां। त्वं सूर्यातिशायिमहिमा कदाचिदस्तं नोप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यासि स सूर्यः अस्तमुपयाति । त्वं राहुगम्यो नासि स तु राहु-गम्यः । त्वं सहसा वेगेन । युगपत्सहैव । जगन्ति त्रैलोक्यं स्पष्टी-करोषि उद्योतयसि । त्वमम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावो नांभोधरै-र्मेघैरुदरमध्ये निरुद्धो महाप्रभावो यस्य सः । स तु अम्भोधरोदर-निरुद्धमहाप्रभावः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र) हे मुनियोंके इन्द्र ! (त्वम्) तुम (कदाचित्) कभी (न अस्तम् उपयासि) न अस्त होते हो (न राहुगम्यः) न राहुके द्वारा ग्रसे जाते हो और (न अम्भोधरोदर-निरुद्धमहाप्रभावः) न मेघके मध्यमें छिप गया है महान् तेज जिसका ऐसे भी हो तथा (युगपत्) एकसाथ (जगन्ति) तीनों लोकोंको (सहसा) शीघ्र ही (स्पष्टीकरोषि) प्रकाशित करते हो, (इति) इस तरह आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्यसे अधिक महिमावाले हो ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा सूर्यसे भी अधिक है । क्योंकि सूर्य सन्ध्याके समय अस्त हो जाता है, पर आप कभी अस्त नहीं होते । सूर्यको राहु ग्रस लेता है, पर आपको वह आज तक भी नहीं ग्रस सका है । सूर्य दिनमें क्रम क्रमसे सिर्फ मध्यलोक को प्रकाशित करता है, पर आप एक साथ समस्त लोकको प्रका-शित करते हैं, और सूर्यके तेजको मेघ रोक लेते हैं, पर आपके ज्ञानतेजको कोई नहीं रोक सकता ॥१७॥

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकबिम्बम् ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु–मुखमें, न छुपे घनोंसे ।
अच्छे प्रकाशित करे, जगको सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ ! मुखेन्दु तेरा ।।१८।।

टीका—भो जगदीश्वर ! तव भगवतो । मुखाम्बुजं वक्त्रकमलं । अपूर्वशशांकबिम्बं किंचिन्नवचन्द्रमण्डल । विभ्राजते शोभते । भ्राजदीप्तावित्यस्य धातोः प्रयोगः । कथंभूत तव मुखाब्जं ? नित्यमजस्रमुदयो यस्य तत् । तत्त् कदाचिदुदयम् । पुनर्दलितं स्फेटित मोहलक्षणं महान्धकारं येन तत् । पुनः राहुवदनस्य गम्यं न । पुनः वारिदानां मेघानां न गम्यं । पुनरनल्पा प्रबला कांतिः रुक् यस्य तत् । पुनर्जगत्त्रैलोक्यं विद्योतयत् । अपूर्वमेव शशांकबिम्बमपूर्वशशांकबिम्बम् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(नित्योदयम्) हमेशा उदय रहनेवाला (दलितमोहमहान्धकारम्) मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला (राहुवदनस्य न गम्यम्) राहुके मुखके द्वारा ग्रसे जानेके अयोग्य (वारिदानां न गम्यम्) मेघोंके द्वारा छिपानेके अयोग्य (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला और (जगत्) ससारको (विद्योतयत्) प्रकाशित करने वाला (तव) आपका (मुखाब्जम्) मुखकमल रूपी (अपूर्वशशांकबिम्बम्) अपूर्व चन्द्रमण्डल (विभ्राजते) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका मुखकमल अपूर्व चन्द्रमा है, क्योंकि यह चन्द्रमा दिनमें अस्त होजाता है, पर आपका मुख-चन्द्र हमेशा उदित रहता है । चन्द्रमा सिर्फ अन्धकारको नष्ट करता है, पर आपका मुखचन्द्र मोहरूपी अन्धकारको भी नष्ट कर देता है । चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रसा जाता है, पर आपके मुखचन्द्रको राहु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं ग्रस सकता। चन्द्रमाको बादल छिपालेते हैं, पर आपके मुख-चन्द्र को बादल नहीं छिपा सकते। चन्द्रमाकी कान्ति कृष्ण पक्ष में घट जाती है, पर आपके मुखचन्द्रकी कान्ति हमेशा बढ़ती ही रहती है, और चन्द्रमा सिर्फ मध्यलोकको प्रकाशित करता है, पर आपका मुखचन्द्र तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है ॥१८॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

क्या भानुसे दिवसमें निशिमें शशीसे,
तेरे प्रभो, सुमुखसे तम नाश होते ।
अच्छी तरह पक गया जग बीच धान,
है काम क्या जल भरे इन बादलोंसे ॥१९॥

टीका—भो नाथ! युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु भवन्मुखचन्द्रस्फेटितेषु। तमस्सु अन्धकारेषु। शर्वरीषु रात्रिषु। शशिना चन्द्रेण किं कार्यं? वा अथवा। अह्नि दिवसे। विवस्वता सूर्येण किं कार्यं? युष्मत्तव मुखमेवेन्दुश्चन्द्रस्तेन दलितानि तेषु। जीवलोके पृथिव्यां। निष्पन्नशालिवनशालिनि सति जलभारनम्रैर्जलधरैर्मेघैः कियत्कार्यं किं प्रयोजनं? निष्पन्नानि च तानि शालीनां वनानि च निष्पन्नशालिवनानि तैः शालते शोभत इति निष्पन्नशालिवनशालि तस्मिन् निष्पन्नशालिवनशालिनि। जलभारेण नम्रा जलभारनम्रास्तैः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ!) हे स्वामिन्! (तमःसु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु 'सत्सु') अन्धकारके, आपके मुखचन्द्रमाके द्वारा नष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाने पर (शर्वरीषु) रातमें (शशिना) चन्द्रमासे (वा) अथवा (अह्नि) दिनमें (विवस्वता) सूर्यसे (किम्) क्या प्रयोजन है ? (निष्पन्नशालिवनशालिनि) पैदा हुई धान्यके वनोंसे शोभायमान (जीवलोके) संसारमें (जलभारनम्रैः) पानीके भारसे झुके हुए (जलधरैः) मेघोंसे (कियत्) कितना (कार्यम्) काम रह जाता है ?

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह संसारमें धान्यके पक जाने पर बादलोंसे कोई लाभ नहीं होता, उसीतरह आपके मुख-चन्द्रके द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाने पर दिनमें सूर्यसे और रात में चन्द्रमा से कोई लाभ नहीं है ॥१९॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजो महामणिषु[1] याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जो ज्ञान निर्मल विभो तुझमें सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर—देवतामें ।
होती मनोहर छटा मणि मध्य जो है,
सो काचमें नहि, पड़े रवि विम्बके भी ॥२०॥

टीका—भो देव ! यथा त्वयि विषये ज्ञानं कैवल्यं कृताव-काशं विभाति शोभते । तथा हरिहरादिषु नायकेषु ब्रह्मविष्णु-महेशेषु । एवं ज्ञानं कृतावकाशं नास्ति । कृतोऽवकाशः स्थानं यस्य तत् । हरिहरा आदिर्येषां ते हरिहरादयस्तेषु । यथा तेजो जात्येषु महामणिषु महत्त्व याति प्राप्नोति । तथा तु पुनः किर-णाकुलेऽपि काचशकले एवं तेजो महत्त्वं न याति । महान्तश्च

१—तेजः स्फुरन्मणिषु इत्यपि पाठः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते मणयश्च महामणयस्तेषु । काचस्य शकलं काचशकलं तस्मिन् । किरणैराकुलं व्याप्तं तस्मिन् । भो देव ! यत्त्वयि विषये ज्ञानं । विभ्राजते शोभते । तज्ज्ञानं हरिहरादिषु देवेषु नास्ति । यदि चेदेवं ज्ञानं स्यात् तदा संसारे परिभ्रमणं कथं कुर्वन्तीति तात्पर्यार्थः ॥२०॥

अन्वयार्थ – (कृतावकाशम्) अवकाशको प्राप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (यथा) जिस तरह (त्वयि) आपमें (विभाति) शोभायमान होता है, (एवं तथा) उस तरह (हरिहरादिषु) विष्णु शङ्कर आदि (नायकेषु) देवोंमें (न 'विभाति') शोभायमान नहीं होता, (तेजः) तेज (महामणिषु) महा मणियोंमें (यथा) जैसे (महत्त्वम्) महत्त्वको (याति) प्राप्त होता है, (तु) निश्चयसे (एव 'तथा') वैसे महत्त्वको (किरणाकुले अपि) किरणोंसे व्याप्त भी (काचशकले) कांचके टुकड़ेमें (न 'याति') नहीं प्राप्त होता ।

भावार्थ—हे विभो ! लोक अलोकको जाननेवाला निर्मल ज्ञान जिस तरह आपमें शोभाको प्राप्त होता है, उस तरह ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवोंमें नहीं होता । तेजकी शोभा महा-मणिमें ही होती है, न कि कांचके टुकड़ेमें भी ॥२०॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

देखे भले अयि विभो ! पर देवता ही ।
देखे जिन्हें हृदय आ तुझमें रमे ये ।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो ! जो,
कोई रमे न मनमें पर जन्ममें भी ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—नाथ ! अहमेवम्मन्ये हरिहरादय एव देवा । वरं दृष्टा समीचीनं विलोकिताः । कुतश्चेत्तेषु हरिहरादिषु दृष्टेषु सत्सु हृदयं ममान्तःकरणं । त्वयि भगवति विषये । तोषं प्रमोदं एति प्राप्नोतीत्यर्थः । भो देव ! भवता श्रीतीर्थंकरपरमदेवेन । वीक्षितेन किं भवति ? एतदेव भवति । येन कारणेनान्यः कश्चिद्देवः । भुवि पृथिव्यां । भवान्तरेऽपि परजन्मन्यपि । मनो न हरति अन्तःकरणं न विकलीकरोति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (मन्ये) मैं मानता हूं, कि (दृष्टाः) देखे गये (हरिहरादयः एव) विष्णु, महादेव आदि देव ही (वरम्) अच्छे हैं, (येषु दृष्टेषु सत्सु) जिनके देखे जाने पर (हृदयम्) मन (त्वयि) आपके विषयमें (तोषम्) सन्तोषको (एति) प्राप्त हो जाता है, (वीक्षितेन) दखे गये (भवता) आपसे (किम्) क्या लाभ है ? (येन) जिससे कि (भुवि) पृथिवीपर (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा देव (भवान्तरे अपि) जन्मान्तरमें (मनः) चित्तको (न हरति) नहीं हर पाता ।

भावार्थ—इस श्लोकमें व्याजोक्ति अलंकारसे विपरीत कथन किया गया है । श्लोकका अविरुद्ध अर्थ यह है कि हे प्रभो! संसार में आप ही सर्वश्रेष्ठ देव हैं । आपके दर्शनसे चित्तको इतना सन्तोष होता है, कि वह मरनेके बाद भी किसी दूसरे देव के दर्शन नहीं करना चाहता । हरिहर आदि देव रागी द्वेषी हैं, उनके दर्शनसे चित्त सन्तुष्ट नहीं होता । इसीलिये वह आप जैसे देवोंके दशनोंकी इच्छा रखता है ॥२१॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ।।२२।।

मांयें अनेक जनतीं जगमें सुतोंको,
हैं किन्तु वे न तुझसे सुतकी प्रसूता ।
सारो दिशा धर रही रविका उजेला,
पै एक पूरब दिशा रविको उगाती ।।२२।।

टीका—भो परमेश्वर भो देवाधिदेव ! स्त्रीणां शतानि नाना स्त्रियः । शतशोऽनेकशः पुत्राञ्जनयन्ति । पुनरन्या काचन जननी त्वदुपमं भवता तुल्यं सुतं । न प्रसूता न जनिता । त्वयोपमीयतेऽसौ त्वदुपमस्तं । सर्वा एव दिशः । भानि नक्षत्राणि । दधति धरन्ति । प्राच्येव पूर्वदिगेव । स्फुरदंशुजालं सहस्ररश्मि सूर्यं । जनयति उत्पादयति । स्फुरन्ति दीप्यमानानि अंशुजालानि यस्य सः स्फुरदंशुजालस्तं । परं त्पदुपमां नैतीति तात्पर्यम् ।।२२।।

अन्वयार्थ—(स्त्रीणाम् शतानि) स्त्रियोंके शतक-सैंकड़ों स्त्रियाँ (शतशः) सैंकड़ों (पुत्रान्) पुत्रोंको (जनयन्ति) पैदा करती हैं, परन्तु (त्वदुपमम्) आप जैसे (सुतम्) पुत्रको (अन्या) दूसरी (जननि) माँ (न प्रसूता) पदा नहीं कर सकी (भानि) नक्षत्रोंको (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरदशुजालम्) चमक रहा है किरणोंका समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मिम्) सूर्यको (प्राची दिक् एव) पूर्व दिशा ही (जनयति) प्रकट करती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्यको पूर्व दिशाके सिवाय अन्य दिशाएँ प्रगट नहीं कर पातीं, उसी तरह आपको अपनी माताके सिवाय अन्य मातायें पैदा नहीं कर सकीं । आप भाग्यशालिनी माताके अद्वितीय भाग्यशाली पुत्र हैं ।।२२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस–
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्रपंथाः ।।२३।।

योगी तुम्हें परम–पुरुष हैं बताते,
आदित्यवर्ण मलहीन तमिस्रहारी ।
पाके तुम्हें जय करें सब मौत को भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्षमार्ग ।।२३।।

टीका—भो भगवन् भो देव ! मुनयः योगीश्वराः । त्वां परमं पुमांसं सर्वोत्कृष्टपुरुषं । आमनन्ति अंगीकुर्वन्ति इत्यर्थः। भो नाथ ! मुनयस्त्वाम् तमसोऽन्धकारस्य पुरस्तात् । अमलं भासमानमादित्यवर्णं सूर्यमामनन्ति । भो मुनीन्द्र मुनयस्त्वामेव भगवन्तं सम्यगुपलभ्य परिप्राप्य मृत्युं जयन्ति । शिवपदस्य शिवस्थानस्यान्यः पन्था मार्गः शिवः कल्याणकारी न स्यात् ।।२३।।

अन्वयार्थ—(मुनीन्द्र !) हे मुनियोंके नाथ ! (मुनयः) तपस्वीजन ! (त्वाम्) आपको (आदित्यवर्णम्) सूर्यकी तरह तेजस्वी (अमलम्) निर्मल और (तमसः पुरस्तात्) मोह-अन्धकारसे परे रहनेवाले (परम पुमांसम्) परम–पुरुष (आमनन्ति) मानते हैं । वे (त्वाम् एव) आपको ही (सम्यक्) अच्छी तरहसे (उपलभ्य) प्राप्त कर (मृत्युम्) मृत्युको (जयन्ति) जीतते हैं। 'इसके सिवाय' (शिवपदस्य) मोक्षपदका (अन्यः) दूसरा (शिवः) अच्छा (पन्थाः) रास्ता (न 'अस्ति') नहीं है ।

भावार्थ—सांख्यमत वाले कमलपत्रकी तरह निर्लेप, शुद्ध ज्ञानरूप पुरुषको मानते हैं, और अन्तमें प्रकृतिजन्य विकारोंको छोड़कर पुरुषकी प्राप्तिको मोक्ष मानते हैं । आचार्य मानतुंगने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी व्यापक दृष्टिसे भगवान्‌के लिये ही परम पुरुष बतलाता है, और साथमें यह भी कहा है कि आपको अच्छी तरह प्राप्तकर जानकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जो आपसे दूर रहते हैं, उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ।।२३।।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।।२४।।

योगीश, अव्यय, अचिंत्य, अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा, असंख्य, परमेश्वर, एक नाना ।
ज्ञानस्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
त्यों आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त ।।२४।।

टीका—भो नाथ ! सन्तः सत्पुरुषाः । त्वां एवंविधं वदंति कथयन्तीत्यर्थः। कथंभूतं त्वां ? विभुं ज्ञानस्वरूपेण व्यापकमित्यर्थः । पुनरचिन्त्यं अनेकातिशयैः कृत्वा चिन्तयितुं न शक्यमित्यर्थः । पुनरसंख्यं असख्यातगुणैः कृत्वा संख्यारहितमित्यर्थः। पुनराद्य एतदेवावसर्पिणीकालसम्बन्धिचतुर्विंशतितीर्थंकराणां मध्ये प्रथममित्यर्थः। पुनः कथंभूत ? ब्रह्माणं परब्रह्मस्वरूपाढ्यमित्यर्थः। पुनः कथं ? ईश्वरमष्टप्रातिहार्यादिसमवसरणर्द्धिविराजमानत्वात् । पुनः कथं ?अनन्तमनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्याणामानन्त्यात पुनः कथं ? अनंगकेतुं[1] कामप्रज्वलने केतुर्धूमकेतुः कन्दर्पस्य दहनत्वात् । पुनः कथं ? योगीश्वरं योगिनां कैवल्यादिमुनीनामीश्वरस्तं तीर्थंकरत्वात् । पुनः कथं विदितयोगं विदिता

१—पूर्वपदलोपे केतु पदेन धूमकेतुर्निगृह्यते अथवा—अनङ्गाय केतुरिव इत्यनङ्गकेतुः कामविनाशसूचकः केतुर्ग्रहविशेष इत्यर्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञाता योगा ध्यानानि रत्नत्रयस्वरूपव्यापारा येन स तं । पुनः कथं? अनेकं अनेकानन्ततीर्थंकर नामत्वात् । पुनः कथं ?एकं त्रैलोक्यमध्ये एकोऽद्वितीयः तं. सर्वोत्तमज्ञानस्वरूपमयत्वात् ज्ञानस्वरूपं त्वां भणंति । पुनः कथं ? अमलं मलरहितमष्टकर्मविनाशकत्वात् । २४।।

अन्वयार्थ—(सन्तः) सज्जन पुरुष (त्वाम्) आपको (अव्ययम्) अव्यय (विभुम्) विभु (अचिन्त्यम्) अचिन्त्य (असंख्यम्) असंख्य (आद्यम्) आद्य (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (ईश्वरम्)ईश्वर (अनन्तम्) अनन्त (अनंगकेतुम्) अनंगकेतु (योगीश्वरम्) योगीश्वर (विदितयोगम्) विदितयोग (अनेकम्) अनेक (एकम्) एक (ज्ञानस्वरूपम्) ज्ञानस्वरूप और (अमलम्) अमल (प्रवदन्ति) कहते हैं ।

भावार्थ—भगवन् ! आपकी आत्माका कभी नाश नहीं होता, इसलिये सत्पुरुष आपको 'अव्यय'–अविनाशी कहते हैं। आपका ज्ञान तीनों लोकोंमें फैला हुआ है, इसलिये आपको 'विभु' व्यापक कहते हैं। आपके स्वरूपका कोई चिन्तवन नहीं कर सकता, इसलिये आपको 'अचिन्त्य'-चिन्तवनके अयोग्य कहते हैं। आपके गुणोंकी संख्या नहीं है, इसलिये आपको 'असंख्य'-गणना रहित कहते हैं। आप युगके आदिमें हुए अथवा चौबीस तीर्थंकरों में आदि हैं, इसलिये आपको 'आद्य'–प्रथम कहते हैं। आप सब कर्मोंसे से रहित हैं, अथवा अनन्त गुणों-से बढ़े हुए हैं, इसी लिये आपको 'ब्रह्मा' कहते हैं। आप कृतकृत्य हैं, इसीलिये आपको 'ईश्वर' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूप की अपेक्षा अन्त रहित हैं, इसलिये आपको 'अनन्त' कहते हैं। आप कामको नष्ट करने के लिये अग्निको तरह हैं, इसलिये आपको 'अनंगकेतु' कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप योगियों–मुनियोंके स्वामी हैं, इसलिये आपको 'योगीश्वर' कहते हैं। आप योग–ध्यान वगैरहको जाननेवाले हैं, इसलिये आपको 'विदितयोग, कहते हैं। आप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूप हैं, इसलिये आपको 'अनेक' कहते हैं। आप सामान्य स्वरूपकी अपेक्षा एक हैं, इसलिये आपको 'एक' कहते हैं। आप केवलज्ञान रूप हैं। इसलिये आपको 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं, तथा आप कर्म–मलसे रहित हैं, इसलिये आपको 'अमल' कहते हैं ।।२४।।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा–
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ।।२५।।

तू बुद्ध है विबुध-पूजित–बुद्धिवाला,
कल्याण–कर्तृ वर शंकर भी तुही है ।
तू मोक्षमार्ग विधि–कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ पुरुषोत्तम भी तुही है ।।२५।।

टीका—भो भगवन् ! त्वमेव बुद्धोऽसि बुद्धदेवोऽसीत्यर्थः । कुतः ? विबुधार्चितबुद्धिबोधात् । विबुधैर्देवैरर्चितः पूजितः । बुद्धे र्बोधः प्रतिबोधो यस्य स तस्मात् । भो नाथ ! त्वं शंकरोऽसि । त्वमेव शंकरदेवोऽसीत्यर्थः । कस्मात् भुवनत्रयाणां शं सुखं करोतीति भुवनत्रयशंकरस्तस्य भावस्तस्मात् । हे धीर ! त्वमेव धाताऽसि । कस्मात्, शिवस्य मोक्षस्य मार्गः पन्थास्तस्य विधिः आचारस्तस्य विधानात् करणत्वात् । भो भगवन् ! व्यक्तम् स्पष्टम् यथा स्यात्तथा त्वमेव पुरुषोत्तमोऽसि । त्रिषष्टिपुरुषाणां मध्ये उत्तमः पुरुषोत्तमस्तीर्थंकरः साक्षान्मोक्षांगत्वात् ।।२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) देव अथवा विद्वानोंके द्वारा पूजित बुद्धि–ज्ञानवाले होनेसे (त्वम् एव) आप ही (बुद्धः) बुद्ध हैं। (भुवनत्रयशंकरत्वात्) तीनों लोकोंमें शांति करनेके कारण (त्वम् एव) आप ही (शंकरः असि) शङ्कर हैं। (धीर) हे धीर! (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्गकी विधिके (विधानात्) करनेसे (त्वम् एव) आप ही (धाता) ब्रह्मा हैं, और (भगवन्) हे स्वामिन्! (त्वम् एव) आप ही (व्यक्तम्) स्पष्ट रूपसे (पुरुषोत्तमः असि) मनुष्योंमें उत्तम अथवा नारायण हैं।

भावार्थ— संसारमें बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा और नारायण नामसे प्रसिद्ध अन्य देव हैं। आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! केवलज्ञानसहित होने के कारण आप ही सच्चे 'बुद्ध' हैं। किन्तु जो सर्वदा क्षणिकवादी अथवा केवलज्ञानसे रहित हैं, वह बुद्ध बुद्ध नहीं कहला सकते। तीनों लोकोंके सुख या शांतिके करनेसे आपही सच्चे 'शङ्कर' हैं। जो संसारका संहार करनेवाले हैं, और कामसे पीड़ित होकर पार्वती को हमेशा साथ रखते हैं, वह शंकर शंकर नहीं हो सकते। आपने ही रत्नत्रयरूप धर्मका उपदेश देकर मोक्षमार्गकी सृष्टि की है। इसलिये आपही सच्चे 'ब्रह्मा' हैं। जो हिंसक वेदोंका उपदेश देते और तिलोत्तमाके मोहमें फंस तपसे भ्रष्ट हुए, वह ब्रह्मा ब्रह्मा नहीं कहे जा सकते। इसी तरह पुरुषोत्ताम–कृष्णनारायण भी तुम्हीं हो, क्योंकि आप सब पुरुषों में उत्ताम–श्रेष्ठ हो ॥२५॥

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ!
तुभ्य नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रैलोक्य-आर्तिहरनाथ तुझे नमूं मैं,
हे भूमिके विमल रत्न ! तुझे नमूं मैं ।
हे ईश ! सर्व जगके तुझको नमूं मैं,
मेरे भवोदधि-विनाशि तुझे नमूं मैं ।। २६ ।।

टीका—भो नाथ ! तुभ्यं भगवते नमः । कथंभूताय तुभ्यं? त्रिभुवनस्यार्ति दुःखं हरतीति त्रिभुवनार्तिहरस्तस्मै । भो देव ! तुभ्यं नमः । कथभूताय तुभ्यं ? क्षितितलेऽमलभूषणं क्षितितलामलभूषणं तस्मै । भो जिन ! तुभ्यं नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? त्रिजगतश्चाधोमध्योर्ध्वलोकस्य । परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरस्तस्मै । भो जिन ! तुभ्य नमः । कथंभूताय तुभ्यं ? भवलक्षणो य उदधिः समुद्रस्तं शोषयतीति भवोदधिशोषणस्तस्मै ।।२६।।

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (त्रिभुवनार्तिहराय) तीनों लोकोंके दुःखोंके हरनेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (क्षितितलामलभूषणाय) पृथिवीतलके निर्मल आभूषणस्वरूप(तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, (त्रिजगतः) तीनों जगत्के (परमेश्वराय) परमेश्वर स्वरूप (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो, और (जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (भवोदधिशोषणाय) संसार-समुद्रके सुखानेवाले (तुभ्यम्) आपके लिये (नमः 'अस्तु') नमस्कार हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंकी विपत्तियां हरनेवाले हो, महीतलके निर्मल आभूषण हो, त्रिभुवनके स्वामी हो और संसार-समुद्रके शोषक हो, इसलिये आपको नमस्कार हो ।।२६।।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ।।२७।।

आश्चर्य क्या गुण सभी तुझमें समाये,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगा हो,
देखा न नाथ ! मुख भी तव स्वप्नमें भी,
पा आसरा जगतका सब दोषने तो ।।२७।।

टीका—मुनीनां प्रत्यक्षज्ञानिनामीशः । तस्यामंत्रणे । भो मुनीश ! अत्र जगन्मण्डले । को विस्मयः किमाश्चर्यम् । यदि चेत् नामेति सत्ये । अशेषैः समग्रैर्गुणैः । निरवकाशतया अनवकाशतया अवकाशरहितत्वेन । त्वं भगवान् संश्रितः अवकाशान्निष्क्रान्तो निरवकाशस्तस्य भावस्तत्ता तया । भो नाथ ! दोषैरष्टादशदोषैः । स्वप्नान्तरेऽपि स्वप्नमध्येऽपि । त्वं कदाचिदपि नेक्षितोऽसि न दृष्टोऽसि । अत्रापि को विस्मयः ? कथंभूतैर्दोषैः ! उपात्ताः आदृताश्च ते विविधा अनेकाश्रयाश्च तैः कृत्वा जात उत्पन्नो गर्वोऽभिमानो येशां ते तैः ।।२७।।

अन्वयार्थ—(मुनीश !) हे मुनियोंके स्वामी ! (यदि नाम) यदि (निरवकाशतया)अन्य जगह स्थान न मिलनेके कारण (त्वम्) आप (अशेषैः) समस्त (गुणैः) गुणोंके द्वारा (संश्रितः) आश्रित हुए हो और (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त हुए अनेक आधार से उत्पन्न हुआ है, अहंकार जिनको ऐसे (दोषैः) दोषोंके द्वारा (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्नके मध्यमें भी (कदाचित् अपि) कभी भी (न ईक्षितः असि) नहीं देखे गये हो, (तर्हि) तो (अत्र) इस विषयमें (कः विस्मयः) क्या आश्चर्य है ? कुछ नहीं

भावार्थ—गुणोंको संसारमें अन्य स्थान नहीं मिला, इसलिये वे विवश हो आपकी शरणमें आगये । परन्तु दोषोंको अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थानकी कभी नहीं थी इसलिये वे स्वप्नमें भी आपके पास नहीं आये। व्यवहार में भी देखा जाता है, कि जिसका अन्यत्र सन्मान नहीं होता है, वह विवश हो किसी एकके पास ही रहता है, पर जिसका हर जगह सन्मान होता है, वह किसी एकके आश्रित नहीं रहता। श्लोकका तात्पर्य इतना ही है कि आप गुणवान् हैं, आप में दोष बिलकुल ही नहीं हैं ॥२७॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

नीचे अशोक तरुके तन है सुहाता,
तेरा विभो ! विमलरूप प्रकाशकर्त्ता ।
फैली हुई किरणका तमका विनाशी,
मानो समीप घनके रवि-बिम्ब ही है ॥२८॥

टीका—भो नाथ ! भगवतस्तव परमेश्वरस्य । अमलं रूपं जगन्मोहनसौन्दर्यं । उच्चैरशोकतरुसंश्रितं प्रथमप्रातिहार्याशोक वृक्षाश्रितं । स तु नितान्तं निरन्तरमाभाति राजतीत्यर्थः । उच्चैश्चासावशोकतरुश्चोच्चैरशोकतरुस्तं संश्रितं रूपं। कथंभूतं रूपं? उन्मयूखं उत ऊर्ध्वं निःसरन्तो मयूखाः किरणा यस्मात्तत् । कस्य किमिव रवेर्बिम्बमिव । यथा रवेः सूर्यस्य बिम्बं पयोधरपार्श्ववर्ति । कथं ? रवेर्बिम्बं स्पष्टं प्रकटं यथा स्यात्तथा । उल्लसन्तः विस्फुरन्तः किरणा यस्य तत् । पुनः कथं ? अस्तं निराकृतं तमसां पापानां वितान समूहो येन तत् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(उच्चैरशोकतरुसंश्रितम्) ऊंचे अशोक वृक्ष के नीचे स्थित तथा (उन्मयूखम्) जिसकी किरणें ऊपरको फैल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रही हैं, ऐसा (भवतः) आपका (अमलम्) उज्ज्वल (रूपम्) रूप (स्पष्टोल्लसत्किरणम्)स्पष्ट रूपसे शोभायमान हैं किरणें जिसकी और (अस्ततमोवितानम्) नष्ट कर दिया है, अन्धकारका समूह जिसने ऐसे (पयोधरपार्श्ववर्ति) मेघके पासमें वर्तमान (रवेः बिम्बम् इव)सूर्यके बिंबकी तरह (नितान्तम्) अत्यन्त (आभाति) शोभित होता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! ऊंचे और हरे भरे अशोक वृक्ष के नीचे आपका सुवर्णसा उज्ज्वल रूप उस भांति भला मालूम होता है, जिस भांति काले-काले मेघके नीचे सूर्यका मण्डल । यह अशोक प्रातिहार्य का वर्णन है ॥२८॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

सिंहासन--स्फटिक रत्न-जड़ा उसीमें,
भाता विभो ! कनक-कान्त शरीर तेरा ।
ज्यों रत्नपूर्ण उदयाचल शीशपे जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोहे ॥२९॥

टीका—भो नाथ ! मणिमयूखशिखाविचित्रे नानारत्न-किरणप्रभाभासुरे । सिंहासनेऽनर्घ्यविष्टरे । कनकावदातं प्रतप्त-कांचनसन्निभं । तव परमेश्वरस्य । सप्तधातुविवर्जितं परमौदारिकं वपुर्देहो विभ्राजते । अतिशयेन विराजत इत्यर्थः । मणीनां मयूखाः किरणास्तेषां शिखाः कांतिकलापास्ताभिर्विचित्रं तस्मिन् । किमिव सहस्ररश्मेः सूर्यस्य बिंबं मण्डलं । तुंगोदयाद्रि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिरसि उच्चैस्तरोदयशिखरे । विराजते शोभते । तुंगश्चासावुदयाद्रिश्च तुंगोदयाद्रिस्तस्य शिखरं तस्मिन् । कथंभूतं बिम्बम् ? वियद्विलसदंशुलतावितानं वियति गगने विलसच्छोभमानमंशुलतानां वितानं यस्मिन् तत् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मणिमयूखशिखाविचित्रे) रत्नोंकी किरणों के अग्रभागसे चित्र विचित्र (सिंहासने) सिंहासन पर (तव) आपका (कनकावदातम्) सुवर्णकी तरह उज्ज्वल (वपुः) शरीर, (तुङ्गोदयाद्रिशिरसि) ऊंचे उदयाचलको शिखरपर (वियद्विलसदंशुलतावितानम्) आकाशमें शोभायमान है किरणरूपी लताओंका समूह जिसका ऐसे (सहस्ररश्मेः) सूर्यके (बिम्बम् इव) मण्डलकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान हो रहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! उदयाचलकी चोटीपर सूर्यका बिम्ब जैसा भला मालूम होता है, वैसा ही रत्नोंके सिंहासन पर आपका मनोहर शरीर भला मालूम होता है । यह सिंहासन प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२९॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकांतम् ।
उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

तेरा सुवर्णसम देह विभो ! सुहाता,
है श्वेत कुन्द-सम चामरके उड़ेसे ।
सोहे सुमेरुगिरि, कांचन कांतिधारी,
ज्यों चन्द्रकांतिधर निर्झरके बहेसे ॥३०॥

टीका—भो भगवन् ! तव वपुः कुन्दावदातचलचामर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारुशोभं सत् विभ्राजते चकास्तीत्यर्थः। कुन्दवदवदातानि उज्ज्वलानि चलानि वीज्यमानानि च तानि चामराणि च कुन्दावदातचलचामराणि तैः चार्वी मनोज्ञा शोभा यस्य तत्। कथंभूतं वपुः? कलधौतवत्कान्तं मनोज्ञं कलधौतकान्तं। किमिव सुरगिरेः शातकौम्भं। उच्चैस्तटमिव यथा सुरगिरेर्मेरोः शातकौम्भं। सुवर्णमयं उच्चैस्तटं। विभ्राजते। शातकुम्भस्येदं शातकौम्भं। कथंभूतमुच्चैस्तटं? उद्यतश्चासौ शशांकश्चोद्यच्छशांकस्तद्वच्छुचीन्युज्ज्वलानि च निर्झराणां वारीणि च उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारीणि तेषां धारा यस्मिन् तत्॥३०॥

अन्वयार्थ—(कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) कुन्दके फूलके समान स्वच्छ चंवरोंके द्वारा सुन्दर है, शोभा जिसकी ऐसा (तव) आपका (कलधौतकान्तम्) सुवर्णके समान सुन्दर (वपुः) शरीर (उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्) जिसपर चन्द्रमाके समान शुक्ल झरनेके जलकी धारा बह रही है, ऐसे (सुरगिरेः) मेरुपर्वतके (शातकौम्भम्) सोनेके बने हुए (उच्चैस्तटम् इव) ऊंचे तटकी तरह (विभ्राजते) शोभायमान होता है।

भावार्थ—हे प्रभो! जिसपर देवोंके द्वारा सफेद चंवर ढोले जा रहे हैं, ऐसा आपका सुवर्णमय शरीर उतना सुहावना मालूम होता है, जितना कि झरनेके सफेद जलसे शोभित मेरुपर्वतका सोनेका शिखर। यह चंवर प्रातिहार्यका वर्णन है॥३०॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोती मनोहर लगे जिनमें सुहाते,
नीके हिमांशु-सम, सूरज-तापहारी।
हैं तीन छत्र शिरपै अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता बताते ॥३१॥

टीका—भो भगवन्! तव भगवतः। छत्रत्रयं शशांकवदुज्ज्वलं शशांककान्त। पुनः कथं? स्थगित उत्तंभितो भानुकराणां सूर्यकिरणानां प्रतापो येन तत्। पुनः कथं? मुक्ताफलानां प्रकराः गुच्छा मुक्ताफलप्रकरास्तेषां जालानि पुंजास्तैर्विशेषेण वृद्धा वर्द्धमाना शोभा यस्य तत्। पुनः कथं? त्रिजगतः परमेश्वरस्य परमैश्वर्यं प्रख्यापयत् प्रवदत्। प्रकर्षेण ख्यापयति कथयतीति प्रख्यापयत् परमेश्वरस्य भावः परमेश्वरत्वं ॥३१॥

अन्वयार्थ—(शशांककान्तम्) चन्द्रमाके समान सुन्दर (स्थगितभानुकरप्रतापम्) सूर्यकी किरणोंके सन्तापको रोकनेवाले तथा (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्) मोतियोंके समूहसे बढ़ती हुई शोभाको धारण करनेवाले (तव उच्चैः स्थितम्) आपके ऊपर स्थित (छत्रत्रयम्) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगतके (परमेश्वरत्वम्) स्वामित्वको (प्रख्यापयत् 'इव') प्रकट करते हुएकी तरह (विभाति) शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—भगवन्! आपके शिर पर जो तीन छत्र फिर रहे हैं, वे मानों यह प्रकट कर रहे हैं कि आप तीन लोकके स्वामी हैं। यह छत्रत्रय प्रातिहार्यका वर्णन है ॥३१॥

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुंदुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंभीर नाद भरता दश ही दिशामें,
सत्संगकी त्रिजगको महिमा बताता।
धर्मेशकी कर रहा जय-घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ॥३२॥

टीका—खे आकाशे ! ते तव तीर्थंकरस्य । दुन्दुभिः पटहः। ध्वनति शब्दायते । कथंभूतं दुन्दुभिः ? गम्भीरोऽगाधस्तार उच्चैस्तरो यो रवः शब्दस्तेन पूरिता दिग्विभागा येन सः । पुनः कथंभूतं ? त्रैलोक्यस्य लोका इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादयस्तेषां शुभस्य संगमः प्राप्तिस्तस्य भूतिर्भवनं तत्र दक्षो निपुण इत्यर्थः। पुनः कथं ? सत्समीचीनो यो धर्मराजस्तस्य जयघोषणं जयपटहं घोषयति कथयतीति सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः । अथवा सन् विद्यमानो धर्मराजो यमस्तस्य जयस्तस्य घोषणं घोषयतीति, पुनः कथं ? सन् उत्तमः । पुनः कथंभूतं ? यशसः प्रवादी । प्रकर्षेण वदत्येवंशीलः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ—(गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः) गम्भीर और उच्च शब्दसे दिशाओंके विभागको पूर्ण करनेवाला (त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः) तीन लोकके जीवोंको शुभ सम्पत्ति प्राप्त करानेमें समर्थ और (सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः) समीचीन जैनधर्मके स्वामीकी जयघोषणा करनेवाला (दुन्दुभिः) दुन्दुभि बाजा (ते) आपके (यशसः) यशका (प्रवादी सन्) कथन करता हुआ (खे) आकाशमें (ध्वनति) शब्द करता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आकाशमें जो दुन्दुभि बाजा बज रहा है, वह मानों आपकी जय बोलता हुआ आपका सुयश प्रगट कर रहा है । यह दुन्दुभि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥३२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात—
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गंधोदबिंदुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

गन्धोद-बिन्दुयुत मारुतकी गिराई,
मन्दारकादि तरुकी कुसुमावलीकी ।
होती मनोरम महा सुरलोकसे है,
वर्षा, मनो तव लसे बचनावली है ॥३३॥

टीका—भो भगवन् ! ते तव । उद्धा प्रत्यग्रा । मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः । दिवो गगनात्पतति । मंदाराणि च सुन्दरनमेरूणि च सुपारिजातानि च सन्तानकानि च मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकानि तान्ये—वादिर्येषां तान्येवं विधानि च तानि कुसुमानि च तेषामुत्करः समूहस्तस्य वृष्टिर्वर्षणं मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः । गन्धमिश्रिता य उदबिन्दवो जलकणाः शुभाः शीतला मन्दाः सुरभयो ये मरुतो वायवस्तेषां प्रपातो यस्यां सा । पुनः कथंभूता ? दिवि भवा दिव्या । वा इवार्थे । उत्प्रेक्षते तव वचसां ततिरिव वचनश्रेणिरिव ॥३३॥

अन्वयार्थ—(गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) सुगन्धित जलकी बून्दों और उत्तम मन्द हवाके साथ है प्रपात-गिरना जिस का ऐसी (उद्धा) श्रेष्ठ और (दिव्या) मनोहर (मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षोंके फूलोंके समूहकी वर्षा (ते) आपके (वचसाम्) वचनोंकी (ततिः वा) पंक्ति की तरह (दिवः) आकाशसे (पतति) पड़ती है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे नाथ ! सुगन्धित जल और मन्द हवाके साथ आकाशसे जो कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा होती है, वह आपके मनोहर वचनावलीकी तरह शोभित होती है। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्यका वर्णन है ।।३३।।

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरंतरभूरिसंख्या ।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या ।।३४।।

त्रैलोक्यकी सब प्रभामय वस्तु जीतो,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ ऐसा ।
नाना प्रचण्ड रवि-तुल्य सुदीप्तिधारी,
है जीतता शशि सुशोभित रातको भी ।।३४।।

टीका—भो स्वामिन् ! ते तव । विभोः परब्रह्मणः । शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा । भामण्डलप्रभा लोकत्रयद्युतिमतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकादीनां द्युतिं दीप्तिमाक्षिपन्ती तिरस्कुर्वन्ती । सती दीप्त्या कृत्वा । निशामपि रात्रिमपि जयत्यपि। शुम्भच्छोभमानं यत्प्रभावलयं भामण्डलं तस्य भूरिश्चासौ विभा च शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा । लोकत्रये द्युतिमन्तस्तेषाम् । कथंभूता भामंडलप्रभा ? प्रोद्यन्तः उदयन्तो दिवाकराः सूर्यास्तेषां निरान्तरा आन्तर्यरहिता भूरयः प्रचुराः संख्या गणना यस्याः सा । पुनः कथंभूता ? सोमश्चन्द्रस्तद्वत्सौम्या मनोज्ञा ।।३४।।

अन्वयार्थ—(लोकत्रयद्युतिमताम्) तीनों लोकोंके कांतिमान पदार्थोंकी (द्युतिम्) कांतिको (आक्षिपन्ती) तिरस्कृत करने वाली (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या) उगते हुए अन्तर रहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक सूर्योंको है बहु गणना जिनमें और ऐसी (सोमसौम्या) चन्द्रमाके समान सुन्दर (ते विभोः) आपके (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) देदीप्यमान भामण्डलकी विशाल कान्ति-रात्रिको भी (जयति) जीत रही है।

भावार्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आपकी प्रभा सूर्यसे भी अधिक तेजस्विनी है तथापि वह सन्ताप देनेवाली नहीं है। चन्द्रप्रभाकी तरह शीतल भी है। यह भामण्डल प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३४ ॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः,
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

है स्वर्ग मोक्ष-पथ-दर्शनकी सुनेता,
सद्धर्मके कथनमें पटु है जगोंके।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी प्रभो ! है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिस्से ॥३५॥

टीका—भो विभो ! ते तव भगवतो दिव्यध्वनिर्भवति। कथंभूतो दिव्यध्वनिः ? स्वर्गः सुरलोकोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्गममार्गः गमनपथस्तस्य विमार्गणं प्रापणं तत्रेष्ट समर्थः। पुनः कथंभूतः ? त्रिलोक्याः सत्समीचीन यद्धर्मतत्त्वं तस्य कथनं तत्रैकपटुरद्वितीयो वाचालः। पुनः कथं ? विशदाश्च ते अर्थाश्च विशदार्थास्तैः। सर्वेषां प्राणिनां भाषाणां स्वभावपरिणामगुणं प्रकर्षेण युनक्तीति विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः। सर्वे प्राणिनः स्वस्वभाषया निसृतं तव दिव्यध्वनिं कलयन्तीति तात्पर्यार्थः।३५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्षको जानेवाले मार्गके खोजनेके लिये इष्ट (त्रिलोक्याः) तीन लोकके जीवोंको (सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुः, समीचीन धर्मतत्त्वके कथन करनेमें अत्यन्त समर्थ और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः) स्पष्ट अर्थवाली सम्पूर्ण भाषाओंमें परिवर्तित होनेवाले स्वाभाविक गुणसे सहित (भवति) होती है।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! आपकी वाणी स्वर्ग और मोक्ष का रास्ता बतानेवाली है, सब जीवोंको हितका उपदेश देनेमें समर्थ है, और सब भाषाओंमें बदल जाती है, अर्थात् जो जिस भाषाका जानकार है, आपकी दिव्यध्वनि उसके कानोंके पास पहुंचकर उसी रूप हो जाती है। यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्यका वर्णन है ॥ ३५ ॥

उन्निद्रहेमनवपंकजपुञ्जकान्ति-
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

फूले हुए कनकके नव पद्मके से,
शोभायमान नखकी किरण-प्रभासे-
तूने जहां पग धरे अपने विभो ! हैं,
नीके वहां विबुध पङ्कज कल्पते हैं ॥३६॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! यत्र स्थाने। तव भगवतः। पादौ पदानि। धत्तः धरतः। तत्र स्थाने। विबुधाः देवाः। पद्मानि कमलानि। परिकल्पयन्ति रचयन्तीत्यर्थः। कथंभूतौ पादौ? उन्नि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्राणि विकसितानि यानि हेम्नः सुवर्णस्य नवपंकजानि कमलानि तेषां पुंजः समूहस्तस्य कान्तिस्तया कृत्वा परिसमन्ततः उल्लसन्तो ये नखास्तेषां किरणास्तेषां शिखाग्रभागस्ताभिरभिरामौ मनोज्ञावित्यर्थः ।। ३६ ।।

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्रदेव ! (उन्निद्रहेमनवपङ्कज पुञ्जकान्तिपर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) फूले हुए सुवर्णके नवीन कमल समूहके समान कान्तिके द्वारा सब ओरसे शोभायमान नखों की किरणोंके अग्र भागसे सुन्दर (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहां (पदानि) कदम (धत्तः) रखते हैं, (तत्र) वहां (विबुधाः) देव (पद्मानि) कमल (परिकल्पयन्ति) रच देते हैं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब आप धर्मोपदेश देनेके लिये आर्य क्षेत्रोंमें विहार करते हैं, तब देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते जाते हैं ।। ३६ ।।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ।। ३७ ।।

तेरी विभूति इस भाँति विभो ! हुई जो,
सो धर्मके कथनमें न हुई किसी को ।
होते प्रकाशित परन्तु तमिस्र-हर्त्ता,
होता न तेज रवि तुल्य कहीं ग्रहोंका ।। ३७ ।।

टीका—भो जिनेन्द्र ! इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण । यथा धर्मोपदेशनविधौ । तव तीर्थंकरस्य । विभूतिरभूत् बभूव । तथा परस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिहरादिषु विभूतिर्नाभूत् । धर्मस्योपदेशनं धर्मोपदेशनं तस्य विधिस्तस्मिन् । एतद्युक्तमेव दिनकृतः सूर्यस्य प्रभा दीप्तिर्यादृगभूत् विकाशिनोऽपि प्रकटीभूतस्यापि ग्रह गणस्यतादृक् प्रभा कुत एव कथंभूता सूर्यप्रभा ? प्रहतानि निराकृतानि अन्धकाराणि यस्या सा ॥३७॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (इत्थं) इस प्रकार (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशके कार्यमें (यथा) जैसी (तव) आपकी (विभूतिः) विभूति (अभूत्) हुई थी, (तथा) वैसी (परस्य) किसी दूसरेकी (न 'अभूत') नहीं हुई थी । (प्रहतान्धकारा) अन्धकारको नष्ट करनेवाली (यादृक्) जैसी (प्रभा) कांति (दिनकृतः) सूर्यकी ('भवति') होती है, (तादृक्) वैसी (विकाशिनः अपि) प्रकाशमान भी (ग्रहगणस्य) अन्य ग्रहोंकी (कुतः) कहां से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

भावार्थ– हे प्रभो ! धर्मोपदेशके विषयमें समवसरणादिरूप जैसी विभूति आपको प्राप्त हुई थी, वैसी विभूति अन्य देवताओंको प्राप्त नहीं हुई थी । सो ठीक ही है, क्या कभी सूर्य जैसी कांति शुक्र आदि ग्रहोंसे भी प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥३७॥

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल–
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वाभयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

दनों कपोल झरते मदसे सने हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली है ।
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ॥३८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो नाथ ! भवदाश्रितानां पुंसां । ऐरावताभं पराक्रमेण ऐरावततुल्य । उत्कटं उद्धतमापतन्तं सन्मुखमागच्छन्तमिभं हस्तिनं । दृष्ट्वा विलोक्य । भयं नो भवति । भवन्तमाश्रिता भवदाश्रितास्तेषां । कथंभूतमिभं ? श्च्योतन्तः क्षरन्तो ये मन्दास्तैराविलौ कलुषीभूतौ विलोलौ यो कपोलौ तयोर्मूले मत्ता भ्रमन्तश्च ये भ्रमरास्तेषां नादः शब्दस्तेन विवृद्धः कोपो यस्य स तम् ।। ३८ ।।

अन्वयार्थ—(भवदाश्रितानाम्) आपके आश्रित मनुष्योंको (श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्) झरते हुए मद-जलसे मलिन और चञ्चल गालोंके मूल भागमें पागल हो घूमते हुए भौंरोंके शब्दसे बढ़ गया है क्रोध जिसका ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावतकी तरह (उद्धतम्) उद्दण्ड (आपतन्तम्) सामने आते हुए (इभम्) हाथीको (दृष्ट्वा) देखकर (भयम्) डर (नो भवति) नहीं होता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपकी शरण लेते हैं, उन्हें मदोन्मत्त हाथी भी नहीं डरा सकता ।।३८।।

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगत हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ।।३९।।

नाना करीन्द्रदल कुंभ विदार केकी,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गजमोतियोंसे ।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उस्पै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ।।३९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो भगवन् ! हरिणाधिपोऽपि तव विभो क्रम युगाचलसंश्रितं प्राणिनं नाक्रामति न पीडयति । क्रमयोर्युगं क्रम क्रमयुगमेवाचलः पर्वतस्तं संश्रितस्तं । हरिणानामधिपः । कथंभूत हरिणाधिपः ? भिन्ना विदारिता ये इभाः हस्तिनस्तेषां कुंभा कुंभस्थलानि तेभ्यो गलंति उज्ज्वलानि शोणितेन रुधिरेण आक्तानि लिप्तानि यानि मुक्ताफलानि तेषां प्रकरः समूहस्तेन भूषितोऽलंकारितो भूमेर्भागः प्रदेशो येन सः । पुनः कथंभूतः ? बद्धः क्रमः फाल इति येन स । कथंभूतं प्राणिनं ? क्रमं फालं गत प्राप्तस्तं । सिंहस्य फलः क्रम इति कथ्यते ॥३९॥

अन्वयार्थ—(भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफल प्रकरभूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथीके गण्डस्थलसे गिरते हुए उज्ज्वल तथा खूनसे भीगे हुए मोतियोंके समूहके द्वारा भूषित किया है पृथिवीका भाग जिसने ऐसा तथा (बद्धक्रमः) छलांग मारनेके लिये तैयार (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतम् अपने पांवोंके बीच आये हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितम् चरण युगलरूप पर्वतका आश्रय लेनेवाले पुरुषपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके चरणोंकी शरण लेते है, सिंह भी उनका शिकार नहीं कर पाता ॥३९॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानल ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्त,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झालें उठें चहुं उड़े जलते अंगारे,
दावाग्नि जो प्रलयवह्नि समान भासे ।
संसार भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्ति–गान शुभ–वारि उसे समावे ॥४०॥

टीका—भो भगवन् ! त्वन्नामकीर्तनजलं भवन्नामस्मरणपानीयं । अशेषं समग्रं दावानलं विश्वं त्रैलोक्यं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तमभिमुखमागच्छन्तं शमयति । तव नाम त्वन्नाम त्वन्नाम्नः कीर्तनं तदेव जलं त्वन्नामकीर्तनजलं । अत्तुमिच्छति जिघत्सति जिघत्सतीति जिघत्सुस्तं । कथंभूतं दावानलं ? कल्पान्तकालपवनेन प्रलयकालवायुनोद्धताः ये वह्नयस्तेभ्यः ईषन्न्यूनः कल्पान्तकालपवनोद्धतवाह्नकल्पस्तं । पुनः ज्वालाः संजाता उत्पन्ना यस्यासौ ज्वलितस्तं । ज्वालादेर्ह्लस्वः । पुनः कथं ? उज्ज्वलं उत् ऊर्ध्वं ज्वलतीति उज्ज्वलस्तं । अथवा उज्ज्वलन्तेजोभिराक्रान्तं । पुनः कथं ?उत्स्फुलिंगम् उत् इत्युच्छलन्तः स्फुलिंगा वह्निकणाः यस्मात्स तम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(त्वन्नामकीर्तनजलम्) आपके नामका यशोगानरूपी जल, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्) प्रलयकालकी वायुकी प्रचण्ड अग्निके तुल्य (ज्वलितम्) प्रज्वलित (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (उत्फुलिंगम्) जिससे तिलंगे निकल रहे हैं ऐसी तथा (विश्वं जिघत्सुम् इव) संसारको भक्षण करनेकी इच्छा रखनेवालेकी तरह (सम्मुखम्) सामने (आपतन्तम्) आती हुई (दावानलम्) वनकी अग्निको (अशेषम् 'यथा स्यात् तथा') सम्पूर्ण रूपसे (शमयति) बुझा देता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके नामका स्मरण करनेसे भयंकर दावानल–दुंवारकी बाधा नष्ट हो जाती है ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

रक्ताक्ष क्रुद्ध पिक-कंठ समान काला,
फुंकार सर्प फणको करउच्च धावै ।
निःशंक हो जन उसे पगसे उलांघे,
त्वन्नाम नागदमनी जिसके हिये हो ॥४१॥

टीका—भो भगवन् ! यस्य पुंसः हृदि अन्तःकरणे त्वन्नामनागदमनी भवन्नामलक्षणसर्पवशीकरणौषधिरस्ति वरिवर्ति। स पुमान् निरस्तशंकः सन् । आपतन्तमभिमुखमागच्छन्तं फणिनं सर्पं क्रमयुगेन पादाभ्यामाक्रामत्युल्लंघयति । कथभूतं फणिनं? उत् ऊर्ध्वं फणा यस्य स तं। पुनः कथंभूतं ? रक्ते आताम्रे ईक्षणे नेत्रे यस्य स तं । पुनः कथं ? मदेन सह वर्तमानो यो हि कोकिलस्तस्य कण्ठस्तद्वन्नीलः श्यामलस्त । पुनः कथं ? क्रोधनोद्धतो दृप्तस्त । तव नाम त्वन्नाम तदेव नागदमनी त्वन्नामनागदमनी ॥४१॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (पुंसः) पुरुषके (हृदि) हृदयमें (त्वन्नामनागदमनी) आपके नामरूपी नागदमनी-नागदौन औषध (अस्ति, मौजूद है, (स) वह पुरुष(रक्तेक्षणम्)लाल लाल आंखों वाले (समदकोकिलकण्ठनीलम्) मदयुक्त कोयलके कण्ठकी तरह काले (क्रोधोद्धतम्) क्रोधसे उद्दण्ड और (उत्फणम्) ऊपरको फन उठाये हुए (आपतन्तम्) सामने आनेवाले (फणिनम्) सांपको (निरस्तशंकः 'सन्') शंकारहित होता हुआ (क्रमयुगेन) दोनों पांवोंसे (आक्रामति) लांघ जाता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे प्रभो ! जो आपके नामका स्मरण करता है, भयंकर सांप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।।४१।।

वल्गत्तुरङ्गगजर्गजितभोमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ।।४२।।

घोड़े जहां हिनहिने, गरजे गजाली,
ऐसे महा प्रवल सैन्य धराधिपोंके ।
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अंधकार उगते रविके करोंसे ।।४२।।

टीका—भो देव ! आजौ संग्रामे बलवतामपि भूपतीनां राज्ञां बलं सैन्यं त्वत्कीर्तनात् भवन्नामस्मरणात् उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं तम इव आशु शीघ्रं भिदामुपैति भेदं प्राप्नोतीत्यर्थः । उद्यन्नुदयप्राप्तो दिवाकरः सूर्यस्तस्य मयूखास्तेषां शिखास्ताभिरपविद्धं भिदां प्राप्तं । कथंभूतं बलं ? वल्गन्तो ये तुरंगा अश्वास्तथा गजानां गर्जितानि तैर्भीमा भयंकरा नादाः शब्दा यस्मिन् तत् । तव कीर्तनं त्वत्कीर्तनं तस्मात् । बलं पराक्रमो विद्यते येषां ते बलवन्तस्तेषाम् ।।४२।।

अन्वयार्थ—(त्वत्कीर्तनात्) आपके यशोगानसे (आजौ) युद्धक्षेत्रमें (वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्) उछलते हुए घोड़े और हाथियोंकी गर्जनासे भयंङ्कर है शब्द जिसमें ऐसी (बलवताम्) पराक्रमी (भूपतीनाम् अपि) राजाओंकी भी (बलम्) सेना (उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्) उगते हुए सूर्यकी किरणोंके अग्रभागसे बांधे गये (तमः इव) अन्धकारकी तरह (आशु)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शीघ्र ही (भिदाम्) विनाशको (उपैति) प्राप्त होजाती है।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह सूर्यकी किरणोंसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपका यशोगान करनेसे बड़े बड़े राजाओंकी सेनाएं भी युद्धमें नष्ट हो जाती हैं—हार जाती हैं ॥ ४२ ॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह—
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे,
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा—
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ४३ ॥

बर्छे लगे बह रहे गज रक्तके हैं,
तालाबसे विकल हैं तरणार्थ योद्धा।
जीते न जांय रिपु, संगर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो ! चरण-सेवक जीतते हैं ॥ ४३ ॥

टीका—भो भगवन् ! त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः प्राणिनो युद्धे रणे जयं लभन्ते विजयं प्राप्नुवंति। तव पादौ त्वत्पादौ तावेव पंकजे कमले तयोर्वनमाश्रयन्ति ते त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः। कथंभूतास्ते ? विजिता दुर्जया जेयपक्षाः शात्रवा यैस्ते। कथंभूते युद्धे ? कुन्तानां भल्लानामग्राणि तैर्भिन्ना विदारिता ये गजास्तेषां शोणितानि रुधिराणि तान्येव वारीणि जलानि तेषां वाहाः प्रवाहास्तेषु वेगानां रयाणां अवतारस्तत्र तरणातुरा व्याकुला ये योधाः सुभटास्तैर्भीमं भयंकरं तस्मिन् ॥४३॥

अन्वयार्थ—(त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः) आपके चरणरूप कमलोंके वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष (कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे) भालोंके अग्रभागसे विदारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गये हाथियोंके खूनरूपी जलके प्रवाहको वेगसे उतरने और तैरनें में व्यग्र योद्धाओंके द्वारा भयंकर (युद्धे) युद्धमें (विजितदुर्जयजेय-पक्षाः 'सन्तः') जीत लिया है मुश्किलसे जीतने योग्य शत्रुओंके पक्षको जिन्होंने ऐसे होते हुए (जयम्) विजय (लभन्ते) पाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आपके चरणोंका सहारा लेते हैं वे भयङ्करसे भयंङ्कर युद्धमें भी निश्चित विजय पाते हैं ।।४३।।

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रास विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ।।४४।।

है काल-नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यों वाडवाग्नि अति भीषण सिन्धुमें है।
तूफानमें पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो! स्मरणसे तव पार होते ।। ४४ ।।

टीका—भो भगवन्! रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्राः प्राणिनः अम्भोनिधौ समुद्रे। भवतस्तव। स्मरणात् स्मरणमात्रात्। त्रासं भयं। विहाय मुक्त्वा। व्रजंति इष्टस्थानं यान्तीत्यर्थः। रंगन्तः उच्छलन्तः ये तरंगाः कल्लोलास्तेषां शिखरेऽग्रभागे स्थितानि यानि पात्राणि प्रवहणानि येषां ते। कथभूतेऽम्भोनिधौ क्षुभिताः क्षोभं प्राप्ता भीषणा भयंकरा ये नक्रा दुष्टजलचरजीवास्तेषां चक्राणि यस्मिन् स तस्मिन् पाठीनपीठो मत्स्यभेदस्तेन भयदो महाभयप्रदायी उल्वणो वाडवाग्निर्यस्मिन् स तस्मिन् ।। ४४ ।।

अन्वयार्थ—(क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाडवाग्नी) क्षोभको प्राप्त हुए भयंङ्कर नाकुओं (मगरों) समूह और मछलियोंके द्वारा भय पैदा करनेवाले तथा विकरा है वडवानल जिसमें ऐसे (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रंगत्तरंगशिख स्थितयानपात्राः) चंचल लहरोंके अग्र भागपर स्थित है जहा जिनका ऐसे मनुष्य (भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरण (त्रासम्) डर (विहाय) छोड़कर (व्रजन्ति) गमन करते हैं-या करते हैं।

भावार्थ– हे भगवन् ! जो आपका स्मरण करते हैं तूफानके समय भी समुद्रमें निडर होकर यात्रा करते हैं ।।४४।।

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवंति मकरध्वजतुल्यरूपाः ।।४५।।

अत्यन्त पीड़ित जलोदर भारसे हैं ।
है दुर्दशा तज चुके निज जीविताशा ।
वे भी लगा तव पदाब्ज-रजः सुधाको,
होते प्रभो ! मदन-तुल्य स्वरूप देही ।।४५।।

टीका– भो देव ! उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना मर्त्या मनुष्यास्त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः सन्तो मकरध्वजतुल्यरू भवंति ।। उदभूता उत्पन्ना भीषणा भयंकरा जलोदरा नानारो दयस्तेषां भारस्तेन भुग्नाः । तव पादावेव पंकजे तयो रजस्तदे मृतं तेन दिग्धो लिप्तो देहो येषां ते । मकरध्वजेन कामेन तु रूप येषां ते । कथंभूता मर्त्याः ? शोच्यां दशामवस्थामुपग प्राप्ताः । शोचयितुमर्हा शोच्या ताम् । पुनः कथंभूताः ? च्यु जीवितस्याशा येषां ते ।।४५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर-रोगके भारसे झुके हुए (शोच्याम् दशाम्) शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त और (च्युतजीविताशाः) छोड़ दी है जीवनकी आशा जिन्होंने ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः 'सन्तः') आपके चरणकमलोंकी धूलिरूप अमृतसे लिप्त शरीर होते हुए (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेवके समान रूपवाले (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! जो आपके चरणोंका ध्यान करता है, उसका भयंकर जलोदररोग दूर हो जाता है ।।४५।।

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टितांगा,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ।।४६।।

सारा शरीर जकड़ा दृढ़ सांकलोंसे,
बेड़ी पड़ीं छिल गई जिनकी सुजांघें ।
त्वन्नाम मंत्र जपते जपते उन्होंके,
जल्दी स्वयं झड़ पड़े सब बन्ध बेड़ी ।।४६।।

टीका—भो नाथ ! मनुजा मनुष्या अनिशं निरन्तरं । त्वन्नाम मन्त्रं भवदभिधानमन्त्रं । स्मरन्तः सन्तः । सद्यस्तत्कालं विगतबंधभयाः प्रणष्टबन्धभया भवंति । तव नाम त्वन्नाम एव मन्त्रस्त्वन्नाम मन्त्रस्तं । विगतं बन्धभयं येषां ते । कथंभूता मनुजाः ? आपादकण्ठं इति पादकण्ठं आमर्यादीकृत्य उरूणि महांति तानि लोहशृङ्खलानि तैर्वेष्टितमंगं येषां ते । पुनः कथंभूतं ? गाढं यथा स्यात्तथा बृहन्ति महान्ति यानि निगडानि तेषां कोटिभिरग्रभागैर्निघृष्टा जंघा येषां ते ।।४६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(आपादकण्ठम्) पांवसे लेकर कण्ठपर्य (उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः) बड़ी बड़ी सांकलोंसे जकड़ा हुआ शरीर जिनका ऐसे और (गाढं 'यथा स्यात्तथा') अत्यंत (बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः) बड़ी बड़ी बेड़ियोंके अग्रभाग घिस गई है जांघें जिनकी ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (अनिशम् निरन्तर (त्वन्नाममन्त्रम्) आपके नामरूपी मन्त्रको (स्मरन् स्मरण करते हुए (सद्यः) शीघ्र ही (स्वयम्) अपने आप (वि तबन्धभयाः) बंधनके भयसे रहित (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो निरन्तर आपके नामका स करते हैं, उनके बेड़ी आदि बन्धन अपने आप टूट जाते हैं ।।४

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम् ।
[1]तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ।।४६।।

जो बुद्धिमान इस सुस्तवको पढ़े हैं,
होके विभीत उनसे भय भाग जाता ।
दावाग्नि-सिन्धु अहिकारण-रोगकाद्यों,
पञ्चास्य मत्त गजका सब बन्धनोंका ।।४७।।

टीका—भो नाथ ! यः कश्चिन्मतिमान् पुमान् । प्रसिद्धं तावकं स्तवं । अधीते पापठीति । तस्य पुंसः पुरुषस मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थं प्रणाशमुपयाति व्रजति । मत्तद्विपेन्द्रश्च मृगराजश्च दवानल अहिश्च संग्रामश्च वारिधिश्च महोदरं च जलोदरं च बन्धन च मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाऽहिसंग्रामवारिधि महोदरबन्धन

१ 'तस्य प्रणाशमुपयाति' समरभटीकासम्मतः पाठः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेभ्य उत्त्थं समुत्त्थितं । कयेव ? उत्प्रेक्षते भियेव भयेनेव ॥४९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (मतिमान्)बुद्धिमान् मनुष्य (तावकम्) आपके (इमम्) इस (स्तवम्) स्तोत्रको (अधीते) पढ़ता है, (तस्य) उसका (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्रामवारिधि-महोदरबन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, वनाग्नि, सांप, युद्ध, समुद्र, जलोदर और बन्धन आदिसे उत्पन्न हुआ(भयम्) डर (भिया इव) मानों भयसे ही (आशु) शीघ्र (नाशम्) विनाशको (उपयाति) प्राप्त होजाता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका स्तवन करनेसे सब तरहके भय नष्ट होजाते हैं ॥४७॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

तेरे मनोज्ञ गुणसे स्तव मालिका ये,
गूंथी प्रभो ! विविध वर्ण सुपुष्पवाली ।
मैंने सभक्ति जन कण्ठ धरे इसे जो,
सो 'मानतुङ्ग' सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥४८॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! इह लोके कश्चन पुमान् जनो । मया भक्त्या तव गुणैर्निबद्धां भवत्तीर्थंकरगुणरचितां । स्तोत्रस्रजं स्तोत्र-मालां कण्ठगतां धत्तो धरति । त मानतुंगं जनं । लक्ष्मीः कमला अवशा द्गतचित्ता सती अजस्रं निरंतरं समुपैति प्राप्नोति । मानेन तुंगो महान् मानतुंगस्तं मानतुंगं कवेरभिधानं । स्तोत्रमेव स्रक् स्तोत्र-स्रक्ताम् । यथा कश्चिद्गुणैः सूत्रैर्निबद्धां ग्रंथितां सदृशां स्रजं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कण्ठमालां बिभर्ति तं पुरुषं लक्ष्मीः शोभा समुपैति । कथंभू स्तोत्रस्रजं ? विविधवर्णा एव विचित्राणि नानाविधानि पुष्पाणि यस्यां सा विविधवर्णविचित्रपुष्पा ताम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनेन्द्रदेव ! (इह) इ संसारमें (यः जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्ति पूर्वक (गुणैः) प्रसाद माधुर्य ओज आदि गुणोंसे [मालाके पक्षमें डोरेसे] (निबद्धाम्) रची गई [माला पक्षमें–गूंथो गई] (विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्) नाना अक्षर हो हैं विचित्र फूल जिसमें ऐ [मालापक्षमें-अच्छे रंगवाले कई तरहके फूलोंसे सहित] (तव आपकी (स्तोत्रस्रजम्) स्तुतिरूप मालाको (अजस्रम्) हमेश (कण्ठगताम् धत्ते) याद करता है, [मालापक्षमें-गलेमें पहिनत है] (तम्) उस (मानतुंगम्) सन्मानसे उन्नत पुरुष [अथव स्तोत्रके रचनेवाले मानतुंग आचार्य] को (लक्ष्मीः) स्वर्ग मोक्षा दिकी विभूति (अवशा 'सती') स्वतन्त्र होती हुई (समुपैति) प्रा होती है।

भावार्थ—हे नाथ ! जो मनुष्य आपके इस स्तोत्र निरन्तर पाठ करता है, उसे हरएक तरहकी लक्ष्मी प्राप्त हो है ॥४८॥

श्रीमानतुंगाचार्यविरचितभक्तामरस्तोत्र–आदिनाथस्तोत

॥ समाप्त ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

।। श्री पार्श्वनाथाय नमः ।।

तार्किकचक्रचूडामणि श्रीकुमुदचन्द्राचार्य
अपरनाम श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचित

कल्याणमन्दिरस्तोत्र

श्रीपार्श्वनाथस्तोत्र ।

(वसन्ततिलका छन्द)

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।।१।।

यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ।।२।।युग्मम्।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविराज पं० गिरिधरजी शर्मा 'नवरत्न' कृत नूतन हिन्दी-पद्यानुवाद

कल्याण-धाम, भय-नाशक पापहारी,
त्यों है जहाज भव—सिन्धु पड़े जनों के।
निन्दाविहीन अति सुन्दर सौख्यकारी,
पादारविन्द प्रभु के नम के उन्हीं को ।।१।।
श्रीपार्श्वनाथ विभु का स्तव मैं रचूंगा,
जो नाथ हैं कमठ-विघ्न—विनाशकर्ता।
त्यों है अशक्त जिनके स्तव को बनाने,
अत्यन्त बुद्धिधन भी गुरु भी सुरों का ।।२।।

श्रीचन्द्रकीर्त्तिकृत संस्कृत टीका

स्तवं चिकीर्षुकामो विघ्नविनिवृत्तये मंगलमाचरन्नाह—

टीका—किलेति संभाव्यते। एषोऽहं कविस्तस्य जगत्प्रसिद्धस्य। जिनेश्वरस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थंकरपरमदेवस्य। अंघ्रि चरणकमलं। अभिनम्य प्रणिपत्य। संस्तवनं सम्यक्स्तोत्रं करिष्ये करिष्यामीत्यर्थः। कथम्भूतमंघ्रिपद्मं? कल्याण मांगल्यराशीनां मन्दिरं निकेतनमित्यर्थः। अथवा पंचकल्याण स्थानमित्यर्थः। पुनः कथंभूतं? उदारं नानासौख्यप्रदातृत्वा पुनः कथंभूतं? अवद्यं पापं भेदयतीति। पुनः कथंभूत? भीता भयत्रस्तानां जन्तूनां अभयं जीवदानं प्रकर्षेण ददातीति। पु कथं? अनिंदितं प्रशस्यं सर्वामरपूजितत्वात्। पुनः कथं? सं रश्चतुर्गतिलक्षणः स एव संसारसमुद्रस्तत्र निमज्जंतश्च ते अशे जन्तवः सर्वप्राणिनश्च तेषां पोतायते तत् पोतायमानं संसारस द्रतारणे प्रवहणतुल्यमित्यर्थः। तस्य कस्य? यस्य तीर्थेश्वर समस्ततीर्थानां स्वामिनः। सुरगुरुर्बृहस्पतिः स्वयं स्तोत्रं विधा कर्तुं न विभुः न समर्थः। कथंभूतस्य यस्य गुरोर्भावः गरिमा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म्बुराशिः समुद्रस्तस्य । कथंभूतः सुरगुरुः ? सुखेन वा सुतरां विस्तृता मतिर्यस्य सः पुनः कथंभूतस्य तस्य कमठचरशंबरनाम-ज्योतिष्कदेवस्य स्मयः गर्वस्तद्दलनाय धूमकेतुर्वह्निस्तस्य ।युग्मम्। ॥ १–२ ॥

साहित्याचार्य पं॰ पन्नालालजी शास्त्रीकृत सान्वयार्थं

और भाषा-टीका ।

अन्वयार्थ—(कल्याणमन्दिरम्) कल्याणोंके मन्दिर, (उदारम्) उदार[1] (अवद्यभेदि) पापोंको नष्ट करनेवाले, (भीताभयप्रदम्) संसारसे डरे हुए जीवोंको अभयपद देनेवाले, (अनिन्दितम्) प्रशंसनीय और (संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानम्) संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए समस्त जीवोंके लिये जहाजके समान (जिनेश्वरस्य) जिनेन्द्र भगवान्के (अङ्घ्रिपद्मम्) चरणकमलको (अभिनम्य) नमस्कार करके, (गरिमाम्बुराशेः) गौरवके समुद्र-स्वरूप (यस्य) जिन पार्श्वनाथकी (स्तोत्रम् विधातुम्) स्तुति करनेके लिये (स्वयं सुविस्तृतमतिः) खुद विस्तृत बुद्धिवाले (सुरगुरुः) बृहस्पति भी (विभुः) समर्थ (न 'अस्ति') नहीं है, (कमठस्मयधूमकेतोः) कमठका मान भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप (तस्य तीर्थेश्वरस्य) उन भगवान् पार्श्वनाथको (किल) आश्चर्य है कि (एषः अहम्) मैं (संस्तवनम् करिष्ये) स्तुति करूंगा ।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान्के चरणकमलोंको नमस्कार कर मैं उन पार्श्वनाथस्वामीकी स्तुति करता हूं, जो गुरुताके समुद्र थे, और कमठका मान-मर्दन करनेवाले थे । तथा बृहस्पति भी जिनकी स्तुति करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका था ॥१–२॥

१. दाता या महान् 'उदारं' दातृमहतोः' ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप—
मस्मादृशाः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः ।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥३॥

तेरा स्वरूप कुछ भी कहने समर्थ,
होवें प्रभो ! किस तरा मुझसे मनुष्य ?
हो धीठ भी किस तरा पर घूक बाल,
या घूक ही कह सके रविका सुरूप ॥३॥

टीका—भो अधीश ! अस्मादृशाः पुमांसः । सामान्यतो सामान्याकारेणाऽपि । तव भगवतः । स्वरूपं वर्णयितुं । यथाख्यातुं । कथमधीशाः समर्था भवंति । विशेषतः स्वरूपं व कुतः समर्थाः । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । किलेति सत्यं धृष्टो कौशिकशिशुः घूकः । दिवांधः सन् । घर्मरश्मेः सूर्यस्य स्वरू किं प्ररूपयति ? अस्मादृशाः कवयस्तव निरंजनस्वरूपं वक्तुं क्ष न भवंति । क इव घूक इव । यथा घूको दिनपतेः सूर्यस्य बि णानि न प्ररूपयति । इति तात्पर्यार्थः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अधीश !) हे स्वामिन् ! (सामान्यतः अ साधारण रीतिसे भी (तव) तुम्हारे (स्वरूपम्) स्वरूपको (व यितुम्) वर्णन करनेके लिये (अस्मादृशाः) मुझ जैसे म (कथम्) कैसे (अधीशाः) समर्थ (भवन्ति) हो सकते हैं ? अ नहीं हो सकते । (यदि वा) अथवा (दिवान्धः) दिनमें अन्धा वाला (कौशिकशिशुः) उलूकका बच्चा (धृष्टः अपि 'सन्') होता हुआ भी (किम्) क्या (घर्मरश्मेः) सूर्यके (रूपम्) स्व (वर्णयति किल) वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कर सकता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह उलूकका बालक सूर्यके रूप वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि जबतक सूर्य रहता है, तबतक अन्धा रहता है, इसी तरह मैं आपके सामान्य स्वरूपका भी न नहीं कर सकता हूं, क्योंकि मैं भी मिथ्याज्ञानरूपी अन्ध रसे अन्धा होकर आपके दर्शनसे वञ्चित रहा हूं ॥३॥

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा–
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥४॥

है जानता हृदय में गुण मोह छूटे—
तेरे भवी, गिन नहीं सकता परन्तु ।
कल्पान्त में जलधि के सब रत्न दीखें,
अन्दाज कौन सकता कर है उन्हों का ॥४॥

टीका—भो नाथ ! भोः स्वामिन् ! नूनं निश्चितं । मर्त्यो ष्यः । मोहक्षयात् मोहनीयकर्मविनाशात् । अनुभवन्नपि जान- प । तव परमेश्वरस्य गुणान् । गणयितुं संख्याकर्तुं । न क्षमेत समर्थो भवेत् । ननु युक्तोऽयमर्थो यस्मात्कारणात्केन पुन्सा । रधेः समुद्रस्य प्रकटोऽपि रत्नराशिः । मीयेत मानं कुर्वीत । भूतस्य जलधेः ? कल्पान्तः प्रलयस्तेन वान्तानि बहिष्कृतानि ांसि जलानि यस्य स तस्य ॥४॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे नाथ ! (मर्त्यः) मनुष्य (मोहक्ष- त्) मोहनीयकर्मके क्षयसे (अनुभवन् अपि) अनुभव करता हुआ (तव) आपके (गुणान्) गुणोंको (गणयितुम्) गिननेके ये (नूनम्) निश्चय करके (न क्षमेत) समर्थ नहीं हो सकता (यस्मात्) क्योंकि (कल्पांतवांतपयसः) प्रलयकालके समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसका पानी बाहर हो गया है, ऐसे (जलधेः) समुद्रकी (अपि) प्रकट हुई भी (रत्नराशिः) रत्नोंकी राशि (न मीयते ?) किसके द्वारा गिनी जा सकती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह प्रलयकालमें पानी न रहनेसे साफ-साफ दिखने वाले समुद्रके रत्नोंको कोई नहीं गिन सकता इसी तरह मिथ्यात्वके अभावसे साफ-साफ दिखनेवाले आपके गुणोंको कोई नहीं गिन सकता। क्योंकि वे अनन्तानन्त हैं।

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥

तू है असंख्य गुण-शोभित मूढ़ हूं मैं,
तेरा तथापि रचन स्तव मैं खड़ा हूं।
फैला भुजा स्वमति के अनुसार क्या है,
विस्तीर्णता न निधि की शिशु भी बताता ? ॥५॥

टीका—भो नाथ ! जडाशयोऽपि अहं। तव परमेश्वरस्य स्तवं कर्तुमभ्युद्यतोऽस्मि उद्यमितोऽस्मि। कथम्भूतस्य तव? लसन्तः शोभमानाः असंख्या ये गुणास्तेषामाकरस्तस्य। बालः स्वधिया बालस्वबुद्धया। निजबाहुयुगं वितत्य विस्तार्य। अम्बुराशेः समुद्रस्य। विस्तीर्णतां किं न कथयति न प्ररूपयति ? अपि तु प्ररूपयतीति तात्पर्यार्थः ॥५॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (जडाशयः अपि 'अहं') मैं मूर्ख भी (लसदसंख्यगुणाकरस्य) शोभायमान असंख्यात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की खानि स्वरूप (तव) आपके (स्तवम् कर्तुम्) स्तवन करने के लिये (अभ्युद्यतः अस्मि) तैयार हुआ हूं । क्योंकि (बालः अपि) बालक भी (स्वधिया) अपनी बुद्धिके अनुसार (निजबाहुयुगम्) अपने दोनों हाथों को (वितत्य) फैलाकर (किम्) क्या (अम्बु-राशेः) समुद्रके (विस्तीर्णताम्) विस्तारको (न कथयति) नहीं कहता ? अर्थात् कहता है ।

भावार्थ– हे नाथ ! जैसे बालक शक्ति न रहते हुए भी समुद्र का विस्तार वर्णन करनेके लिये तैयार रहता है, वैसे ही मैं भी आपकी स्तुति करनेके लिये तैयार हूं ।।५।।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ।।६।।

योगीश भी गिन नहीं सकते गुणों को,
तेरे प्रभो; फिर भला मम क्या चलाई ? ।
मेरी हुई यह मुनीश विना विचारी,
या बोलते विहग भी अपनी गिरा से ।।६।।

टीका–हे ईश ! ये तव गुणा योगिनामपि वक्तुं न यांति न प्राप्नुवंति । तेषु गुणेषु ममावकाशः मम सामर्थ्यं कथं भवति । भो देव तत्तस्मात्कारणात् । एवमियमसमीक्षितकारिता जाता । अविचारितकार्यत्वं जातं । असमीक्षितस्य अविचारितस्य कारिता असमीक्षितकारिता । वा अथवा । ननु निश्चितं । पक्षिणोऽपि निजगिरा स्वकीयवाण्या जल्पंति भणंति । तथैवाहमपीति भावः ।। ६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ईश !) हे प्रभो ! (तव) आपके (ये गुणाः) जो गुण (योगिनाम् अपि) योगियोंको भी (वक्तुम्) कहनेके लिं (न यान्ति) नहीं प्राप्त होते—अर्थात् जिनका कथन योगीज भी नहीं कर सकते (तेषु) उनमें (मम) मेरा (अवकाशः) अवकाश (कथम् भवति) कैसे हो सकता है ? अर्थात् मैं उन्हें कैं वर्णन कर सकता हूं ? (तत्) इसलिये (एवम्) इस प्रका (इयम्) मेरा यह (असमीक्षितकारिता जाता) बिना बिचारे काम करता हुआ (वा) अथवा (पक्षिणः अपि) पक्षी भी (निज-गिरा) अपनी वाणीसे (जल्पन्ति ननु) बोला करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका स्तवन प्रारम्भ करनेके पहले मैंने इस बातका विचार नहीं किया कि आपके जिन गुणोंका वर्णन बड़े-बड़े योगी भी नहीं कर सकते हैं, उनका वर्णन मैं कैसे करूंगा ? इसलिये हमारी यह प्रवृत्ति विना विचारे हुई है ॥६॥

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥७॥

माहात्म्य तो स्तवनका तव है अचिन्त्य,
है नाम ही त्रिजगको भवसे बचाता ।
जो ग्रीष्म में पथिक आतप से सताये,
देती उन्हें सुख-सरोवर की हवा ही ॥७॥

टीका—भो जिन ! ते तव । संस्तवः स्तवनं । आस्तां दूरे तिष्ठतु । कथंभूतः संस्तवः ? अचिन्त्यमहिमा अनिर्वचनीयमहिमा यस्य स इति अचिन्त्यमहिमा । भवतस्तव नामाऽपि अभिधानमपि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवत: संसारात् । जगंति पाति रक्षति । निदाघे ग्रीष्मे । पद्मसरसः पद्ममंडितडागस्य सरसः रसेन जलच्छटाभिः सह वर्तमानः । अनिलोऽपि वायुस्तीव्रः दुस्सहः स चासावातपस्तेन उपहता उपद्रुताश्च ते पांथा जनाश्च पथिकास्तान् प्रीणाति तर्पयति ।।७।।

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (अचिन्त्यमहिमा) अचिंत्य है माहात्म्य जिसका ऐसा (ते) आपका (संस्तवः) स्तवन (आस्ताम्) दूर रहे. (भवतः) आपका (नामअपि) नाम भी (जगन्ति) जीवोंको (भवतः) संसारसे (पाति) बचा लेता है । क्योंकि (निदाघे) ग्रीष्मकालमें (तीव्रातपोपहतपान्थजनान्) तीव्र घामसे सताये हुए पथिकजनोंको (पद्मसरसः) कमलोंके सरोवर का (सरसः) सरस-शीतल (अनिलः अपि) पवन भी (प्रीणाति) सन्तुष्ट करता है ।

भावार्थ—हे देव ! आपके स्तवनकी तो अचिन्त्य महिमा है ही, पर आपका नाममात्र भी जीवोंको संसारके दुखोंसे बचा लेता है । जैसे ग्रीष्मऋतुमें घामसे पीड़ित मनुष्योंको, कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुंचाते ही हैं, पर उन सरोवरोंको शीतल हवा भी सुख पहुचाती है ।।७।।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग—
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ।।८।।

तू लोक के हृदय में यदि हो विभो ! तो,
ढीले तुरन्त पड़ते दृढ़ कर्मबन्ध ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आया मयूर वन का कि भुजंग जैसे,
ढीले पड़ें तुरत चन्दन बन्ध छोड़ ॥८॥

टीका—हे विभो ! त्वयि भगवति हृद्वर्तिनि सति चित्ते वर्तयति क्षति । जन्तोः प्राणिनः । निबिडा अपि कर्मबन्धाः क्षणेन क्षणमात्रेण । शिथिलीभवंति । हृदि वर्तंत इत्येवशीलः हृद्वर्ती तस्मिन् । कर्मणां बन्धाः कर्मबन्धाः अशिथिलाः शिथिला भवंतीति शिथिलीभवंति । के इव ? भुजंगमसया बन्धा इव । यथा पर वनशिखण्डिनि वन मयूरे । चन्दनस्य मध्यभागमभ्यागते सति व भुजंगममया बन्धा इव सद्यः तत्कालं शिथिलीभवंति । भुजंगमप्रकारा भुजंगममयाः प्रकारे मयट् ॥८॥

अन्वयार्थ—(विभो !) हे स्वामिन् ! (त्वयि) आपके (हृद्वर्तिनि 'सति') हृदयमें मौजूद रहते हुए (जन्तोः) जीवोंके (निविड़ाः अपि) सघन भी (कर्मबन्धाः) कर्मोंके बन्धन (क्षणेन) क्षणभरमें (वनशिखण्डिनि) वन मयूरके (चन्दनस्य मध्यभागमभ्यागते 'सति') चन्दन तरुके बीचमें आनेपर (भुजङ्गममया इव) सर्पोंकी कुण्डलियोंके समान (सद्यः) शीघ्र हो (शिथिलीभवन्ति) ढीले हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह मयूरके आते ही चन्दनके वृक्षमें लिपटे हुए सांप ढीले पड़ जाते हैं, उसी तरह जीवोंके हृदयमें आपके आनेपर उनके कर्मबन्धन ढीले पड़ जाते हैं ॥८॥

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागें अवश्य सहसा तुझको विलोके,
लाखों उपद्रव महेश्वर ! मानवों को।
तेजस्वि गोपति विलोकन मात्र से ही,
ज्यों चोर छोड़ भगते पशुवृन्दको हैं ॥९॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! त्वयि भगवति वीक्षिते सति। रौद्रैरपि उपद्रवशतैः उपसर्गकोटिभिः। मनुजाः सहसा मुच्यन्त एव विमुक्ता भवन्ति एव। कैरिव ? चौरैरिव। यथा चौरैः गोस्वामिनि नृपे दृष्टमात्रे सति। आशु शीघ्रं। पशवः मुच्यन्ते। कथंभूते गोस्वामिनि ? स्फुरितं प्रतापाक्रान्तं तेजो यस्य स तस्मिन्। कथंभूतैश्चौरैः। प्रकर्षेण पलायमाना: प्रपलायमानास्तैः शीघ्रं नश्यद्भिः ॥९॥

अन्वयार्थ - (जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (स्फुरिततेजसि) पराक्रमी (गोस्वामिनि) राजाके (दृष्टमात्रे) दिखते ही (आशु) शीघ्र ही (प्रपलायमानै) भागते हुए (चौरैः) चोरोंके द्वारा (पशवः इव) पशुओंकी तरह (त्वयि वीक्षिते अपि) आपके दीखते ही—आपके दर्शन करते ही (मनुजाः) मनुष्य (रौद्रैः) भयङ्कर (उपद्रवशतैः) सैंकड़ों उपद्रवोंके द्वारा (सहसा एव) शीघ्र ही (मुच्यन्ते) छोड़ दिये जाते हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! जिस तरह तेजस्वी राजाके दिखते ही चोर चुराई हुई गायोंको छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी तरह आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव मनुष्योंको छोड़कर भाग जाते हैं ॥९॥

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥१०॥

तू तारता किस तरा भविमानवों को
वे ही तुझे हृदयमें रखके तिराते।
या वारिमें मसक जो तिरती विभो ! है,
है सो प्रभाव बस भीतरकी हवा का ॥१०॥

टीका—यत् यस्मात्कारणात् । त एव प्राणिनः भवा... उत्तरन्तः सन्तो हृदयेन त्वां उद्वहन्ति तारयन्ति । अहमेवं सम... वयामि । भवः संसारः विद्यते येषां ते भविनस्तेषां भविनां । ... युक्तोऽयमर्थः । यत् यस्मात्कारणात् दृतिश्चर्मभस्त्रिका जलं तर... नूनं निश्चितं । किलेति सत्ये । एष अन्तर्गतस्य मरुतः पूरित... वायोरनुभावः प्रभावः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्रदेव ! (त्वम् भवि... तारकः कथम्) आप संसारी जीवोंके तारने वाले कैसे हो स... हैं ? (यत्) क्योंकि (उत्तरन्तः) संसार-समुद्रसे पार होते ... (ते एव) वे संसारी जीव ही (हृदयेन) हृदयसे (त्वाम्) आप... (उद्वहन्ति) तिरा ले जाते हैं (यद्वा) अथवा ठीक है कि (दृति... मसक (यत्) जो (जलम् तरति) पानीमें तैरती है, (सः एषः) ... (नूनम्) निश्चयसे (अन्तर्गतस्य) भीतर स्थित (मरुतः) हवा... ही (अनुभावः किल) प्रभाव है।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह भीतर भरी हुई वायु... प्रभावसे मसक पानीमें तिरती है, उसी तरह आपको हृदय... धारण करनेवाले (मनसे आपका चिन्तवन करने वाले) पु... आपके ही प्रभाव से संसार-समुद्रसे तिरते हैं ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्मिन्हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन ॥११॥

जिसपे प्रभाव चलता न बड़े सुरों का,
तूने किया वश विभो ! उस काम को भी ।
देता बुझा सलिल सो सब वह्नियों को,
सो वाड़वाग्नि पर जोर चला न सक्ता ॥११॥

टीका—भो पार्श्वनाथ ! यस्मिन् कामे हरिप्रभृतयोऽपि ह्माविष्णुमहेशादयो हतप्रभावा निरस्तशक्तयो जाताः सोऽपि तिपतिः कामस्त्वया क्षणेन क्षणमात्रेण क्षपितो ध्वस्तः । अथ क्तोऽयमर्थः । येन पयसा हुतभुजोऽग्नयो विध्यापिता निरस्ता— तदपि जलं दुर्द्धरवाडवेन दुःसहवाडवाग्निना किं न पीतं ? अपि शोषितमित्यर्थः ॥११॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसके विषयमें (हरप्रभृतयः अपि) हादेव आदि भी (हतप्रभावाः 'जाताः') प्रभाव रहित हो गये हैं, सः) वह (रतिपतिः अपि) कामदेव भी (त्वया) आपके द्वारा णेन क्षणमात्रमें (क्षपितः) नष्ट कर दिया गया (अथ) अथवा क है कि (येन पयसा) जिस जलने (हुतभुजः विध्यापिताः) ग्निको बुझाया है,(तत् अपि)वह जल भी (दुर्द्धरवाडवेन) प्रचंड डवानलके द्वारा (किम्) क्या (न पीतम्) नहीं पिया गया ? र्थात् पिया गया ।

भावार्थ—जिस कामने हरि हर ब्रह्मा आदि महापुरुषोंको राजित कर दिया था, उस कामको भी आपने पराजित कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिया यह आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि जो जल संसार समस्त अग्निको नष्ट करता है, उस जलको भी बड़वानल समुद्रकी अग्नि नष्ट कर डालती है ।।११।।

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्नाः
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हंत महतां यदि वा प्रभावः॥

अत्यन्त गौरव विभो ! तुझमें दिखाता,
कैसे तुझे फिर धरें हिय में मनुष्य—
संसार-सिन्धु तरते श्रम के विना ही,
जाना प्रभाव नहिं जाय महाजनों का ।।१२

टीका—भो स्वामिन् ! अतुल्यगरिमाणमपि मानरहि त्वभाराक्रान्तमपि । त्वां प्रपन्नाः प्राप्ता जन्तवः अहो इत्या हृदये दधानाः सन्तः । लघु यथा स्यात्तथा । जन्मोदधिं भवा अतिलाघवेन शीघ्रेण । कथं तरंति ? अन्यत् गुरुत्वाक्रां हृदये दधानाः सन्तः प्राणिनोऽब्धौ निमज्जंति । त्वां गुरुत्व हृदये दधानाः सन्तः भवार्णवे तरंति तन्मम मनसि महत् यदि वा पक्षांतरे हंत इत्यहो महतां महानुभावानां परमपुरु प्रभावो लोकोत्तरो महिमा न चिन्त्यः नो विचारणीय ।।१२।।

अन्वयार्थ—(स्वामिन् !) हे प्रभो ! (अहो) आश्चर्य है (अनल्पगरिमाणम् अपि) अधिक गौरव से युक्त भी विरोध अत्यन्त वजनदार (त्वाम्) आपको (प्रपन्नाः) प्राप्त हो (दधानाः) हृदयमें धारण करने वाले (जन्तवः) प्राणी (जन्मो धिम्) संसार-समुद्रको, (अतिलाघवेन) बहुत ही लघुतासे (

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैसे (लघु) शीघ्र (तरन्ति) तर जाते हैं। (यदि वा) अथवा (हन्त) हर्ष है कि (महताम्) महापुरुषों का (प्रभावः) प्रभाव (चिन्त्यः) चिन्तवनके योग्य (न 'भवति') नहीं होता है।

भावार्थ—श्लोकमें आये हुए 'अनल्पगरिमाणम्' पदके 'अधिक वजनदार' और 'अत्यन्त गौरवसे युक्त—श्रेष्ठ' इस तरह दो अर्थ होते हैं। उनमें से आचार्यने प्रथम अर्थको लकर विरोध बतलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया है, और दूसरे अर्थको लेकर उस विरोधका परिहार किया है ।।१२।।

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ।।१३।।

तूने प्रभो ! प्रथम ही यदि रोष मारा,
मारे बता किस तरा फिर कर्म-चोर ?
या लोकमें इस जगा नहिं क्या जलाता,
पाला सुशीतल, हरे तरु के वनों को ? ।।१३।।

टीका—भो विभो! भो त्रिजगन्नाथ ! यदि चेत्त्वया भगवता। क्रोधः प्रथमं निरस्तो निराकृतः। तदा तर्हि। बतेति विस्मयावहम्। किलेति सत्ये। कर्मचौरा अष्टकर्मदस्यवः। कथं ध्वस्ताः निर्मूलिताः। कर्माण्येव चौराः कर्मचौराः। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। अमुत्र लोके। शिशिरापि शीतलापि। हिमानी हिमसंहतिः। नीलद्रुमाणि विपिनानि किं न प्लोषति न दहति ? अपि तु प्लोषत्येव। नीला हरितो द्रुमा वृक्षा येषु तानि। प्लुष दाहे इत्यस्य धातोः प्रयोगः ।।१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(विभो !) हे स्वामिन् ! (यदि) यदि (त्वया) आपके द्वारा (क्रोधः) क्रोध (प्रथमम्) पहले ही (निरस्तः) नष्ट कर दिया गया था, (तदा) तो फिर (वद) कहिये कि आपने (कर्मचौराः) कर्मरूपी चोर (कथम्) कैसे (ध्वस्ताः किल) नष्ट किये ? (यदि वा) अथवा (अमुत्र लोके) इस लोकमें (हिमानी अपि) बर्फ-तुषार ठण्डा होनेपर भी (किम्) क्या (नीलद्रुमाणि) हरे हरे हैं वृक्ष जिनमें ऐसे (विपिनानि) वनोंको (न प्लोषति) नहीं जला देता है ? अर्थात् जला देता है-मुरझा देता है।

भावार्थ—लोकमें ऐसा देखा जाता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओंको जीतते हैं, पर भगवन् ! आपने क्रोधको तो नवमें गुण स्थानमें ही जीत लिया था। फिर क्रोधके अभावमें चौदहवें गुण स्थान तक कर्मरूपी शत्रुओंको कैसे जीता ? आचार्यने इस लोक विरुद्ध बातपर पहले आश्चर्य प्रगट किया, पर जब बादमें उन्हें ख्याल आता है कि ठण्डा तुषार बड़-बड़े वनोंको क्षणभरमें जला देता है, अर्थात् क्षमासे भी शत्रु जीते जा सकते हैं, तब वे अपने आश्चर्यका स्वयं समाधान कर लेते हैं ॥१३॥

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे ।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

स्वामिन् ! सदा हृदय के बिच हेरते हैं,
योगीन्द्र भी तुझ परात्पर देवता को।
क्या कर्णिका तज कहीं दुसरी जगापै,
होता पवित्र अति निर्मल पद्म-बीज ? ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो जिन ! योगिनः सर्वदा सर्वकाले । हृदयाम्बुजकोशदेशे निजमनोऽम्बुजकोटरे । त्वां परमात्मरूप चिदानन्दरूपं । अन्वेषयन्ति गवेषयन्ति परं सर्वोत्कृष्टं मं ज्ञानं यस्य स चासावात्मा स एव रूप स्वरूप यस्य स तं । हृदयमेवाऽम्बुज कमलं हृदयाम्बुजं तस्य कोशदेशस्तस्मिन् । यदि वा युक्तोऽयमर्थः ननु निश्चितं कर्णिकायाः सकाशात् अन्यत् पूतस्य निर्मलस्य अक्षस्य कमल-बीजस्य । यत् स्थान किं सम्भवि सम्भवति ? अपि तु न सम्भवति । कथंभूतस्य अक्षस्य ? निर्मला रुचिर्यस्य स तस्य ।१४।

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र (योगिनः) ध्यान करनें-वाले मुनीश्वर (सदा) हमेशा (परमात्मरूपम्) परमात्मास्वरूप (त्वाम्) आपको (हृदयाम्बुजकोशदेश) अपने हृदयरूप कमलके मध्यभागमें (अन्वेषयन्ति) खोजते हैं, (यदि वा) अथवा ठीक है कि (पूतस्य) पवित्र और (निर्मलरुचेः) निर्मल कान्तिवाले (अक्षस्य) कमलके बीजका अथवा शुद्धात्माका (सम्भवपदम्) उत्पत्ति स्थान अथवा खोज करनेका स्थान (कर्णिकायाः अन्यत्) कमलको कर्णिका-डण्ठलको छोड़कर अथवा हृदय-कमलकी कर्णि-काको छोड़कर (अन्यत् किम् ननु) दूसरा क्या हो सकता है ?

भावार्थ—बड़े बड़े योगीश्वर ध्यान करते समय अपने हृदय कमलमें आपको खोजते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे कमल-बीजको उत्पत्ति कमल कर्णिकामें ही होती है, उसी तरह शुद्धात्म स्वरूप आपका सद्भाव भी हृदय-कमलकी कर्णिकामें ही होगा। श्लोकमें आये हुए अक्ष शब्दके 'कमलबीज—कमलगटा' और आत्मा (अक्ष्णाति—जानातीत्यक्षः=आत्मा) इस तरह दो अर्थ होते हैं ।।१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥१५॥

हे नाथ ! ध्यान करके भविलोक तेरा,
पाते तुरन्त तन छोड़ परेशता को ।
तीव्राग्नि-ताप-वश पत्थर भाव छोड़,
पाते सुवर्णपन धातु विशेष ज्यों है ॥१५॥

टीका—भो जिनेश ! भविनः प्राणिनः । भवतो ध्यानात् क्षणेन क्षणमात्रेण । देहं शरीरं । विहाय समुत्सृज्य । परमात्म दशां परमात्मावस्थां व्रजन्ति प्राप्नुवन्ति । परमात्मनो द ताम् । क इव ? धातुभेदा इव । यथा धातुभेदाः सुवर्णोप लोके संसारे । तीव्रानलात् अत्यन्तदुःसहाग्नेः सकाशात् । उप भावं उपलत्वं । अपास्य विहाय । अचिरात् अचिरकालेन । चामी करत्वं सुवर्णभावं गच्छन्ति । तीव्रश्चासौ अनलश्च तीव्रानल स्मात् । चामीकरस्य भावः चामीकरत्वम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(जिनेश !) हे जिनेन्द्र ! (लोके) लोक (तीव्रानलात्) तीव्र अग्निके सम्बन्धसे (धातुभेदाः) अनेक धातु (उपलभावम्) पत्थररूप पूर्व पर्यायको (अपास्य) छोड़कर (अचि रात्) शीघ्र ही (चामीकरत्वम् इव) जिस तरह सुवर्ण पर्याय प्राप्त हो जाती हैं, उसी तरह (भविनः) संसारके प्राणी (भवत आपके (ध्यानात्) ध्यानसे (देहम्) शरीरको (विहाय) छोड़क (क्षणेन) क्षणभरमें (परमात्म-दशाम्) परमात्माकी अवस्था (व्रजन्ति) प्राप्त हो जाते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जो जीव आपका ध्यान करते हैं, वे थोड़े ही समयमें शरीर छोड़कर मुक्त हो जाते हैं ॥१५॥

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥१६॥

ध्याते सुभव्य तुझको जिसमें सदा ही,
कैसे विनाश करता उस देह का तू ?
मध्यस्थका यह मनोहर रूप ही है,
या नाथ ! जो विकट विग्रह को नशावे ॥१६॥

टीका—हे जिन ! यस्य शरीरस्यान्तमध्ये । सदैव सर्वदा काले । भव्यैः प्राणिभिस्त्वं । विभाव्यसे स्मर्यसे । तदपि शरीरं कथं नाशयसे । अक्ष पक्षे । हि युक्तोऽयमर्थः । हि यस्मात्कारणात् । मध्यविवर्तिनां प्राणिनां एतत् स्वरूपं एतत् किं ? यत् मध्यविवर्तिनो महानुभावाः विग्रहं कलहं पक्षे शरीर । प्रशमयंति उपशमयंतिमध्ये विवर्तन्त इत्येवंशीलाः मध्यविवर्तिनः । महान् अनुभावः महिमा येषां ते महानुभावाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (भव्यैः) भव्य जीवों के द्वारा (यस्य) जिस शरीरके (अन्तः) भीतर (त्वम्) आप (सदैव) हमेशा (विभाव्यसे) ध्याये जाते हो (तत्) उस (शरीरम् अपि) शरीरको भी आप (कथम्) क्यों (नाशयसे) नष्ट करा देते हैं ? (अथ) अथवा (एतत्स्वरूपम्) यह स्वभाव ही है, (यत्) कि (मध्यविवर्तिनः) मध्यस्थ-बीचमें रहने वाले और राग द्वेषसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित (महानुभावाः) महापुरुष (विग्रहम्) विग्रहशरीर और को (प्रशमयन्ति) शांत करते हैं।

भावार्थ—लोकमें रीति प्रचलित है कि जो जहां रहता अथवा जहां जिसका ध्यान सम्मान आदि किया जाता है वह जगहका विनाश नहीं करता। पर भगवन्! आप भव्यजीवोंके शरीरमें हमेशा सन्मान पूर्वक ध्याये जाते हैं, आप उन्हें विग्रह (शरीर) को नष्ट करनेका उपदेश देते हैं। आचार्य पहले इस लोकविरुद्ध बातपर भारी आश्चर्य होता है, पर उनकी दृष्टि विग्रह शब्दके द्वेष अर्थपर जाती है, तब उन आश्चर्य दूर हो जाता है। श्लोकमें आये हुए विग्रह शब्द दो अर्थ हैं—एक 'शरीर' और दूसरा 'द्वेष' इसी तरह 'मध्यवि तिनः' शब्दके भी दो अर्थ हैं—एक 'बीचमें रहनेवाला' और दू 'राग द्वेषसे रहित समताभावी' ॥१६॥

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किन्नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१७॥

तेरे समान जगदीश ! प्रभाववाला,
आत्मा बने भज तुझे तज भिन्नभाव।
पीयूष भावधर मंत्रित वारि जो है,
सो दूर क्या न करता विषके विकार ? ॥१७॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! मनीषिभिः पुंभिः अयं प्रमाणसिद्ध आत्मा त्वदभेदबुद्ध्या त्वत्तः सकाशादभिन्नधिया। ध्यातः इह लोके भवत्प्रभावो भवति यादृशो भवत्प्रभावस्तादृशेन प्रभा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न युक्तो भवति। त्वत्सदृशो भवतीत्यर्थः। मनोषा बुद्धिर्विद्यते षां ते तैः। त्वत्तः अभेदः ऐक्यं तस्य बुद्धिस्तया भवद्वत् प्रभावो यस्य सः। पानीयमपि अमृत पीयूषं इत्यनुमानं स्मर्यमाणं सत् नाेति निश्चितं। विषविकारं किन्नो अपाकरोति ? किं नो दूरीकरोति ? अपि तु करोतीत्यर्थः। विषस्य विकारो बिषविकारस्तम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र !) हे जिनदेव ! (मनीषिभिः) बुद्धिमानोंके द्वारा (त्वदभेदबुद्धया) 'आपसे अभिन्न है' ऐसी बुद्धिसे (ध्यातः) ध्यान किया गया (अयम् आत्मा) यह आत्मा (भवत्प्रभावः) आप ही क समान प्रभाववाला (भवति) हो जाता है। (अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानम्) यह अमृत है, इस तरह निरन्तर चिन्तवन किया जानेवाला (पानीयम् अपि) पानी भी (किम्) क्या (विषविकारम्) विषके विकारको (नो अपाकरोति नाम) दूर नहीं करता ? अर्थात् करता है।

भावार्थ—जो पुरुष अपने आपको आपसे अभिन्न अनुभव करता है अर्थात् जो सोचता है कि 'भगवन्! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है, निश्चय नयसे हमारी आत्मा भी वैसी ही विशुद्ध है, किंतु वर्तमानमें कर्मोदयसे अशुद्ध हो रही है। यदि मैं भी आपके रास्ते पर चलने का प्रयत्न करूं, तो मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जावेगी'। ऐसा सोचकर जो शुद्ध होनेका प्रयत्न करता है, वह आपकेही समान शुद्धहो जाता है। जैसे कि यह अमृत है, इसप्रकार निरन्तर चिन्तवन किया गया पानी मन्त्रादि के संयोगसे अमृत रूप हो जाता है और विषके विकारको दूर करने लगता है।१७।

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥१८॥

तू वीतराग विभु है, भजते तुझे ही,
नाना मती हरिहरादिक भाव से हैं।
हो दृष्टि-भेद जिनमें उनको विभो! क्या,
है दीखता विविध रंगतका न शंख? ॥१८॥

टीका—भो विभो! नूनं निश्चितं। परवादिनोऽपि नैया[यि]कादयः। त्वामेव परमेश्वरं। हरिहरादिधिया ब्रह्मविष्णुम[हे]सुगतादिबुद्ध्या। प्रपन्नाः प्राप्ताः। ध्यायन्तीत्यर्थः। हरिर्ना[रा]यणो हर ईश्वरइत्यादीनां धीस्तया। कथंभूतं त्वां? वीतं वि[ग]तं तमो येन स वीततमास्तं वीततमसं। परे च ते वादिनश्च पर[वा]दिनः। भो ईश! एतद्युक्तं काचकामलिभिः पुंभिः। सितोऽपि ध[व]लोऽपि शंखः। विविधवर्णविपर्ययेण नानाविधरक्तपीतादि[वि]भ्रांत्या। अन्यथारूपेण किं नो गृह्यते? अपि तु गृह्यत ए[व]। चक्षुषो भ्रान्तिकारी काचकामलरोगो विद्यते येषां ते तैः। वि[वि]धाश्च ते वर्णाश्च विविधवर्णास्तेषां विपर्ययस्तेन ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विभो!) हे स्वामिन्! (परवादिनः अ[पि]) अन्यमतावलम्बी पुरुष भी (वीततमसम्) अज्ञान अन्धका[र] रहित (त्वाम् एव) आपको ही (नूनम्) निश्चयसे (हरिहरा[दि]दिधिया) विष्णु महादेव आदिकी कल्पनासे (प्रपन्नाः) प्राप्त हैं हैं-पूजते हैं। (किम्) क्या (ईश!) हे विभो! (काचकामलि[भिः]) जिनकी आंखपर रंगदार चश्मा है, अथवा जिन्हें पीलिया रोग गया है, ऐसे पुरुषोंके द्वारा (शंखः सितः अपि) शंख सफेद है पर भी (विविधवर्णविपर्ययेण) तरह तरहके विपरीत वर्ण (नोगृह्यते) नहीं ग्रहण किया जाता? अर्थात् किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस तरह कामला (पीलिया) रोग-वाला मनुष्य सफेद शंखको नाना प्रकारसे ग्रहण करता है, उसी मिथ्यात्वके उदयसे अन्य मतावलम्बी पुरुष आपको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि मानकर पूजते हैं ।।१८।।

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः ।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ।।१९।।

धर्मोपदेश करता जब तू, जनों की-
क्या बात नाथ ! बनता तरु भी अशोक ।
होता प्रकाश जब सूरज का नहीं क्या,
पाता प्रबोध तरुसंयुत जीवलोक ? ।।१९।।

टीका—भो परमेश्वर ! धर्मोपदेशसमये धर्मदेशनाकाले । तव परमेश्वरस्य । सविधानुभावात् सामीप्यप्रभावात् । जनो लोकः । आस्तां तिष्ठतु । तरुरपि अशोको भवति शोकरहितो भवति । तत्र लोकोऽपि भवतीति किमाश्चर्यं इति भावः । धर्मस्य उपदेशस्तस्य समयः दिव्यध्वनिकालस्तस्मिन् । सविधस्य अनुभावः महिमा तस्मात् । वा युक्तोऽयमर्थः दिनपतौ सूर्ये । अभ्युद्गते सति समन्तादुदिते सति । समहीरुहोऽपि वृक्षसहितोऽपि । जीवलोकः प्राणिवर्गः । विबोधं ज्ञानं किं न उपयाति ? जाग्रदवस्थां किं न गच्छति ? अपि तु उपयातीत्यर्थः । महीरुहैः सह वतमानः समहीरुहः ।।१९ ।

अन्वयार्थ—(धर्मोपदेशसमये) धर्मोपदेशके समय (ते)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपकी (सविधानुभावात्) समीपताके प्रभावसे (जनः आस्ताम्) मनुष्य तो दूर रहे (तरुः अपि) वृक्ष भी (अशोकः) अशोक=शोक रहित (भवति) हो जाता है। (वा) अथवा (दिनपतौ अभ्युद्गते 'सति') सूर्यके उदित होनेपर (समहीरुहः अपि जीवलोकः) वृक्षों सहित समस्त जीवलोक (किम्) क्या (विबोधम्) विकाश=विशेष ज्ञानको (न उपयाति) प्राप्त नहीं होते? अर्थात् होते हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें अशोक शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक अशोक वृक्ष और दूसरा शोक रहित। इसी तरह विबोध शब्दके भी दो अर्थ हैं—एक विशेष ज्ञान और दूसरा हराभरा तथा प्रफुल्लित होना। हे भगवन्! जब आपके पासमें रहनेवाला वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तब आपके पास रहनेवाला मनुष्य अशोक=शोक रहित हो जावे तो इसमें क्या आश्चर्य है? यह 'अशोकवृक्ष' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥१९॥

चित्रं विभो! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२०॥

आश्चर्य किसतरा सुर-पुष्प-वृष्टि,
स्वामिन्! निरंतर अवाङ्मुख हो रही है।
है या तुझे सुमन ये जब देख पाते,
जाते तभी सफल बन्धन नाथ! नीचे ॥२०॥

टीका—हे विभो! सुरपुष्पवृष्टिः अवाङ्मुखवृन्तमेव यथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यात्तथा विष्वक् समन्तात् कथं पतति ? एतन्महच्चित्रं । अवाङ्मुखानि अधोमुखानि वृंतानि प्रसवबन्धनानि यत्र क्रियायां तत् । वृंतं प्रसवबन्धनमित्यमरः । सुराणां देवानां पुष्पवृष्टिः । न विरला अविरला अविरला निबिडा चेत्यर्थः । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । नूनं निश्चितं । भो मुनीश ! सुमनसां प्राणिनां त्वद्गोचरे त्वत्सांनिध्ये । बन्धनानि अध एव गच्छन्ति । यथासुमनसां पुष्पाणां अधोमुखेन वृंतपतनं तथा बन्धनानि कर्मबन्धनान्यपि सुमनसां प्राणिनां अधो गच्छन्तीति भावः । सुष्ठु मनो येषां ते सुमनसस्तेषां । पुष्पं सुमनसं फुल्लमिति धनंजयः ।।२०।।

अन्वयार्थ—(विभो !) हे प्रभो ! (चित्रम्) आश्चर्य है कि (विष्वक्) सब ओर (अविरला) व्यवधान रहित (सुरपुष्पवृष्टिः) देवोंके द्वारा की हुई फूलोंकी वर्षा (अवाङ्मुखवृन्तम्) एव ('यथा स्यात्तथा') नीचेको बन्धन करके ही (कथम्) क्यों (पतति) पड़ती है ? (यदि वा) अथवा ठीक है कि (मुनीश !) हे मुनियों के नाथ ! (त्वद्गोचरे) आपके समीप (सुमनसाम्) पुष्पों अथवा विद्वानोंके (बन्धनानि) डंठल अथवा कर्मोंके बन्धन (नूनम् हि) निश्चयसे (अधः एव गच्छन्ति) नीचे को ही जाते हैं ।

भावार्थ—इस श्लोकमें सुमनस् शब्दके दो अर्थ हैं—एक फूल और दूसरा विद्वान् या देव । इसी तरह बन्धन शब्दके भी दो अर्थ हैं—एक फूलोंका बन्धन-डण्ठल और दूसरा कर्मोंके प्रकृति आदि चार तरहके बन्ध हे भगवन् ! जो आपके पास रहता है, उसके कर्मोंके बन्धन नीचे चले जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं । इसीलिये तो आपके ऊपर जो फूलोंकी वर्षा होती है, उनमें फूलों के बन्धन नीचे होते हैं और पाँखुरी ऊपर । यह 'पुष्पवृष्टि'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रातिहार्यंका वर्णन है ॥२०॥

स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति ।
पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

'तेरी गिरा अमृत है' यह जो कहाता,
है योग्य क्योंकि हृदयोदधि से उठी है-
पीके तथा मद भरे जन भी उसे हैं,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम ॥२१॥

टीका—भो प्रभो ! तव परमेश्वरस्य । गिरः दिव्यध्वनयः । पीयूषतां अमृतभावं । समुदीरयन्ति जना गिरोऽमृतमयाः कथयन्ति । पीयूषस्य भावः पीयूषता तां । एतत् स्थाने इति युक्तं । कुतः यतः कल्याणात् । भव्याः प्राणिनः । या अमृतमया गिरा पीत्वा । तरसापि वेगेन । अजरामरत्वं व्रजन्ति । अजरामरस्य भावः अजरामरत्वं । कीदृशा भव्याः ? परमः सर्वोत्कृष्टः स चासौ संमदः आनंदस्तत्संगं संयोगं भजन्ते इत्येवंशीलाः । कथंभूता गिरः ? गम्भीरं च तत् हृदयं च तदेव उदधिः समुद्रः तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्यासां ताः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(गभीरहृदयोदधिसंभवायाः) गम्भीर हृदयरूपी समुद्रमें पैदा हुई (तव) आपकी (गिरः) वाणीके (पीयूषताम्) अमृतपने को लोग (स्थाने) ठीक ही (समुदीरयन्ति) प्रकट करते हैं । (यतः) क्योंकि (भव्याः) भव्य जीव ('ताम्' पीत्वा) उसे पीकर (परमसंमदसङ्गभाजः 'सन्तः') परम सुखके भागी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होते हुए (तरसा अपि) बहुत ही शीघ्र (अजरामरत्वम्) अजर-अमरपनेको (व्रजन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—लोकमें प्रचलित है कि अमृत गहरे समुद्रसे निकला था और उसका पान करनेसे देव लोग आनन्दित होते हुए अजर=बुढ़ापा रहित तथा अमर=मृत्यु रहित हो गये थे। भगवन्! आपकी वाणी भी आपके गंभीर हृदयरूपी समुद्रसे पैदा हुई है, और उसके सेवन करनेसे लोग परम सुखी हो अजर अमर हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। ऐसी हालतमें लोग यदि यह कहें कि आपकी वाणी अमृत है, तो ठीक ही कहते हैं। यह 'दिव्यध्वनि' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२१॥

स्वामिन्! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

हे नाथ! पूर नभके उड़ते हुए ये,
मानो यही कह रहे सुर चामरौघ—
"जो हैं प्रणाम करते इस नाथ को हैं,
वे शुद्ध भाव बनके गति उच्च पाते" ॥२२॥

टीका—भो स्वामिन्! अहं एवं मन्ये इति सम्भावयामि। इतीति किं? शुचय उज्ज्वलाः। सुरचामरौघा देवानां चतुःपष्टि-चामरयुग्मानि। सुदूरं अतिसमीपं। यथा स्यात्तथा अवनम्य अल्पं मस्तकोपरि निपत्य। समुत्पतन्तः सन्तः। इति वदन्ति इति भणंति। इतीति किं? ये पुरुषा अस्मै मुनिपुंगवाय समवसरण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विराजमानतीर्थंकरश्रीपार्श्वनाथाय । नतिं नमस्कारं । विदधते कुर्वंते । ते भव्याः नूनं खलु इति सत्ये । शुद्धभावाः सन्त ऊर्ध्वगतयो भवंति । यथा वयं चामरौघाः अवनम्राः सन्तः ऊर्ध्वंगतयस्तथा भवंतः अपि भवंति । शुद्धभावः सम्यक्त्वं येषां ते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे प्रभो ! (मन्ये) मैं मानता हूं कि (सुदूरम्) नीचेको बहुत दूरतक (अवनम्य) नम्रीभूत होकर (समुत्पतन्तः) ऊपरको जाते हुए (शुचयः) पवित्र (सुरचामरौघाः) देवोंके चमर-समूह (वदन्ति) लोगोंसे कह रहे हैं कि (ये) जो (अस्मै मुनिपुङ्गवाय) इन श्रेष्ठ मुनिको (नतिम्) नमस्कार (विदधते) करते हैं, (ते) वे (नूनम्) निश्चयसे (शुद्धभावाः) विशुद्ध परिणामवाले होकर (ऊर्ध्वगतयः) ऊर्ध्व गतिवाले ('भवन्ति' खलु) हो जाते हैं, अर्थात् स्वर्ग-मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब देव लोग आप पर चँवर ढोरते हैं, तब वे चँवर पहले नीचेकी ओर झुकते हैं और बादमें ऊपर को जाते हैं, सो मानों लोगोंसे यह कहते हैं कि भगवान्को झुककर नमस्कार करनेवाले पुरुष हमारे समान ही ऊपरको जाते हैं, अर्थात् स्वर्ग मोक्षको पाते हैं । यह 'चमर' प्रातिहार्य का वर्णन है ॥२२॥

श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तू श्याम है, तव गिरा सुगभीर तेरा–
सिंहासन प्रचुर रत्न-सुवर्णवाला ।
देखे तुझे प्रणयि भव्य मयूर नीके,
मानो सुमेरु-शिरपै नव मेघ गाजे ॥२३॥

टीका—भो विभो ! भव्यशिखण्डिनः भव्यलक्षणाः शिखण्डिनो मयूराः इह लोके त्वां । रभसेन वेगेन । आलोकयंति । भव्या एव शिखण्डिनः भव्यशिखण्डिनः । कीदृशं त्वां ? गभीरा तत्त्वार्थे अत्यन्तमगाधा धीर्यस्य स तं । पुनः कीदृशं त्वां ? उज्ज्वलैर्निर्मलैर्हेमरत्नैः खचिते सिंहासने तिष्ठतीति त । पुनः कीदृश त्वां ? चामीकराद्रिशिरसि मेरोः शृंगे । उच्चैर्नदन्तं नवाम्बुवाहमिव नवमेघमिवोत्प्रेक्षा । चामीकराद्रेः शिरस्तस्मिन् । नवश्चासौ अम्बुवाहश्च तम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोकमें (श्यामम्) श्याम वर्ण (गभीरगिरम्) गम्भीर दिव्यध्वनि युक्त और (उज्ज्वलहेमरत्न-सिंहासनस्थम्) निर्मल सुवर्णके बने हुए रत्नजड़ित सिंहासनपर स्थित (त्वाम्) आपको (भव्यशिखण्डिनः) भव्य जीवरूपी मयूर (चामीकराद्रिशिरसि) सुवर्णमय मेरुपर्वतकी शिखरपर (उच्चैः नदन्तम्) जोरसे गर्जते हुए (नवाम्बुवाहम् इव) नूतन मेघकी तरह (रभसेन) उत्कण्ठापूर्वक (आलोकयन्ति) देखते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस तरह सुवर्णमय मेरु पर्वत उमड़े हुए गर्जना करनेवाले काले मेघको देखकर मयूरोंको बहुत ही आनन्द होता है, उसी तरह दिव्यध्वनि करते हुए तथा सोनेके सिंहासनपर विराजमान श्यामवर्णवाले आपके दर्शनकर भव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवोंको अत्यन्त आनन्द होता है। उनका मन मयूरकी तरह नाचने लगता है। यह 'सिंहासन' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२३॥

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥

भामंडल प्रबल जो तव नाथ ! फैला,
भाया अशोक तरु पत्र छटा लुटाके ।
तेरे समीप रह चेतन कौन है जो,
हे वीतराग ! धरले न विरक्तता को ? ॥२४॥

टीका—भो वीतराग ! अशोकतरुः। तव भगवतः। उद्गच्छता उदीयमानेन सितिद्युतिमण्डलेन उज्ज्वलभामण्डलेन लुप्तच्छदानां पत्राणां छविः शोभा। यस्य स एवंविधो बभूव। शिति च तद्द्युतिमण्डलं च शितिद्युतिमण्डलं तेन। यदि वा युक्तोऽयमर्थः। तव सांनिध्यतोऽपि। कः सचेतनोऽपि सुज्ञोऽपि नीरागतां रागेच्छारहिततां न व्रजति ? अपि तु व्रजतीत्याशयः। चेतनेन सह वर्तमानः सचेतनः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(उद्गच्छता) स्फुरायमान (तव) आपके (शितिद्युतिमण्डलेन) श्याम प्रभामण्डलके द्वारा (अशोकतरुः) अशोकवृक्ष (लुप्तच्छदच्छविः) कान्तिहीन पत्रोंवाला (बभूव) हो गया, (यदि वा) अथवा (वीतराग !) हे रागद्वेष रहित देव ! (तव सान्निध्यतः अपि) आपकी समीपता मात्र से ही (कः सचेतनः अपि) कौन पुरुष सचेतन होकर भी (नीरागताम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग ललाईसे रहितपने अथवा अनुरागके अभावको (न व्रजति) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् अवश्य होता है।

भावार्थ—यह 'भामण्डल' प्रातिहार्यका वर्णन है। हे भगवन् ! आपकी श्यामल कान्तिके संसर्गसे अशोक वृक्षकी लालिमा दब गई, सो ठीक ही है, वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्षमें स्नेह रहित) के समीपसे कौन सचेतन-प्राणी वीतराग (ललाई रहित, दूसरे पक्षमें स्नेह रहित) नहीं हो जाता ? अर्थात् सभी हो जाते हैं। इस श्लोकमें राग पद दो अर्थवाला है- अनुराग-प्रेम-स्नेह और दूसरा लालिमा-ललाई ॥२४॥

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम् ।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥२५॥

जीवो ! प्रमाद तज दो, भज ईश को लो,
है मार्ग-दर्शक, यहाँ बस पास आओ।
ये बात तीन जगको बतला रहा है,
आकाश बीच सुर-दुंदुभि-नाद तेरा ॥२५॥

टीका—भो देव ! अहं एवं मन्ये एवं सम्भावयामि । ते तव । सुरदुन्दुभिः देवपटहः । अभिनभः नभःसमन्तात् । नदन् । जगत्त्रयाय त्रैलोक्याय एतन्निवेदयति । सुराणां दुन्दुभिः सुरदुन्दुभिः । एतत् किं ? भो भो जनाः प्रमादं अवधूय आलस्यं परित्यज्य । आगत्य समेत्य । एनं श्रीपार्श्वनाथं । भजध्वं सेवध्वं । कथंभूतं एनं ? निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम् ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(देव !) हे देव ! (मन्ये) मैं समझता हूं कि (अभिनभः) आकाशमें सब ओर (नदन्) शब्द करती हुई (ते) आपकी (सुरदुन्दुभिः) देवोंके द्वारा बजाई गई दुन्दुभि (जगत्त्रयाय) तीन लोकके जीवोंको (एतत् निवेदयति) यह सूचित कर रही है कि (भो भोः) रे रे प्राणियों ! (प्रमादम् अवधूय) प्रमादको छोड़कर (निर्वृतिपुरीम् प्रति सार्थवाहम्) मोक्षपुरीको ले जानेमें अगुआ (एवम्) इन भगवान्को (आगत्य) आकर (भजध्वम्) भजो।

भावार्थ—हे प्रभो ! आकाशमें जो देवोंका नगाड़ा बज रहा है, वह मानों तीन लोकके जीवोंको चिल्ला चिल्लाकर सचेत कर रहा है कि जो मोक्षनगरीकी यात्राके लिये जाना चाहते हैं, वे प्रमाद छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथकी सेवा करें। यह 'दुन्दुभि' प्रातिहार्यका वर्णन है ॥२५॥

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

तेरे प्रकाशित किये जग में हुआ है,
तारा समेत अधिकार-विहीन चन्द्र।
मुक्ता - कलाप - परिशोभित छत्ररूप-
हो, तीन देह धरके तव पास आया ॥२६॥

टीका—भो नाथ ! अयं तारान्वितो नक्षत्रग्रहतारकान्वितो विधुश्चन्द्रः ध्रुवं निश्चितं। अभ्युपेतः समेतः केषु सत्सु। भवता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमेश्वरेण । भुवनेषु त्रैलोक्येषु । उद्योतितेषु सत्सु । कथंभूतोऽयं ? विहृत: अधिकारो येन सः । पुन: कथंभूतोऽयं ? मुक्तानां कलाप: समूहस्तेन कलितं सहितं उल्लसितं शोभायमानं च तत् आतपत्रं च तस्य व्याजं मिषं । तत्तस्मात् त्रिधा धृततनु: शरीरं येन स: ॥२६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (भवता भुवनेषु उद्योतितेषु 'सत्सु') आपके द्वारा तीनों लोकोंके प्रकाशित होनेपर (विहृताधिकार) अपने अधिकारसे भ्रष्ट तथा (मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात्) मोतियोंके समूहसे सहित अतएव शोभायमान सफेद छत्रके छलसे (तारान्वित) ताराओंसे वेष्टित (अयम् विधुः) यह चन्द्रमा (त्रिधा धृततनुः) तीन तीन शरीर धारण कर (ध्रुवम्) निश्चयसे ('त्वाम्' अभ्युपेतः) आपकी सेवामें प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! जब आपने अपनी कांति वा ज्ञानसे तीनों लोकोंको प्रकाशित कर दिया, तब मानों चन्द्रमाका प्रकाश करने रूप अधिकार छीन लिया गया । इसलिये वह तीन छत्रका वेष धरकर आपकी सेवामें अपना अधिकार वापिस चाहनेके लिये उपस्थित हुआ है । छत्रोंमें जो मोती लगे हुए हैं, वे मानों चन्द्रमा के परिवार स्वरूप तारागण हैं । यह 'छत्रत्रय' प्रातिहार्य का वर्णन है ॥२६॥

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाँदी, सुवर्ण, मणि-माणिक के बनाये,
हैं तीन कोट भगवन् ! चहुं ओर तेरे ।
कीर्ति-प्रताप द्युति के समुदाय ने हो,
मानो विभो ! त्रिजगती तल छा दिया है ।।२७।।

टीका—भो भगवन् ! शालत्रयेण प्राकारत्रयेण । त्वं अभितः समन्तात् । विभासि शोभसे । कथंभूतेन सालत्रयेण ? माणिक्यानि च हेमानि च रजतानि च माणिक्यहेमरजतानि तैः निर्मितेन । केनेव कांतिप्रतापयशसां संचयेनेव । यथा स्वेन कांतिप्रतापयशसां संचयेन त्वं विभासि । कांतिश्च प्रतापश्च यशश्च कांतिप्रतापयशांसि तेषां । कथंभूतेन संचयेन ? प्रपूरितं च जगत्त्रयं च प्रपूरितजगत्त्रयं प्रपूरितजगत्त्रयेण पिंडितः एकीभूतस्तेन । इति तात्पर्यार्थः ।।२७।।

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! आप (अभितः) चहुं ओर, (प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन) भरे हुए जगत्त्रयके पिण्ड अवस्थाको प्राप्त (स्वेन कान्तिप्रतापयशसाम् सञ्चयेन इव) अपने कान्ति प्रताप और यशके समूहके समान शोभायमान (माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन) माणिक्य, सुवर्ण और चाँदीके बने हुए (सालत्रयेण) तीनों कोटोंसे (विभासि) शोभायमान होते हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! समवसरण भूमिमें जो आपके चारों ओर माणिक्य सुवर्ण और चाँदीके बने हुए तीन कोट हैं, वे मानों आपकी कान्ति प्रताप और यशका वह समूह है, जो कि तीनों जगत्में फैलकर पिण्डरूप हो गया है ।।२७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिव्यस्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

देव प्रणाम करते तव दिव्यमाला,
रत्नों जड़े मुकुट को तज के उन्हों के-
तेरा पदाश्रय करे, रमते नहीं हैं-
अन्यत्र या सुमन पाकर संग तेरा ॥२८॥

टीका—भो जिन ! दिव्यस्रजः मनोज्ञपुष्पमालाः । नमत्त्रिदशाधिपानां प्रणमत्त्रिदशेन्द्राणां । रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् रत्नखचितान् किरीटान् । उत्सृज्य । भवतः परमेश्वरस्य । पादौ श्रयंति । नमन्तश्च ते त्रिदशाधिपाश्च तेषां । रत्नैः रचितास्तान् । मौलिनां बन्धाः मौलिबन्धास्तान् । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । सुमनसः प्राणिनः । त्वत्संगमे त्वत्समीपे । सति परत्र अन्यत्र । न रमन्त एव । इति स्थूलार्थः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(जिन !) हे जिनेन्द्र ! (दिव्यस्रजः) दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ (नमत्त्रिदशाधिपानाम्) नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके (रत्नरचितान् अपि मौलिबन्धान्) रत्नोंसे बने हुए मुकुटोंको भी (विहाय) छोड़कर (भवतः पादौ श्रयन्ति) आपके चरणोंका आश्रय लेती हैं । (यदि वा) अथवा ठीक है कि (त्वत्सङ्गमे 'सति') आपका समागम होने पर (सुमनसः) पुष्प अथवा विद्वान् पुरुष (परत्र) किसी दूसरी जगह (न एव रमन्ते) नहीं रमण करते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—श्लोकमें आए हुए सुमनस् शब्दके दो अर्थ हैं–एक पुष्प और दूसरा विद्वान् पुरुष। हे भगवन्! नमस्कार करते समय देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई फूलोंकी मालाएँ जो आपके चरणोंमें गिर जाती हैं, मानों वे पुष्पमालाएँ आपसे इतना अधिक प्रेम करती हैं, कि उनके पीछे देवोंके रत्नोंसे बने हुए मुकुटोंको भी छोड़ देती हैं। सुमनस्=फूलोंका (दूसरे पक्षमें विद्वानोंका) आपमें अगाध प्रेम होना उचित ही है। श्लोकका तात्पर्य यह है कि आपके लिए बड़े-बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं ॥२८॥

त्वं नाथ ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिवनृपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥२९॥

हे नाथ ! तू विमुख जन्म समुद्र से हो,
पीछे पड़े मनुजके गण को तिराता ।
है योग्य बात तुझ पार्थिव को अहो पै,
तू है प्रभो ! सकल कर्म-विपाक-शून्य ॥२९॥

टीका—भो नाथ ! त्वं जन्मजलधेः भवसमुद्रात् विपराङ्मुखोऽपि सन् निजपृष्ठलग्नान् असुमतः प्राणिनः यत्तारयसि हि निश्चितं तवैव सतो विद्यमानस्य पार्थिवनृपस्य राजाधिराजस्य त्रिजगत्स्वामिनः युक्तं । हे विभो ! यत्कर्मविपाकशून्योऽसि तच्चित्रं । यः कोऽपि तारयति स फलं वांछति तव क्वाऽपि वांछा न । अथवा यः कोऽपि कार्यं किमपि करोति तस्य शुभाशुभकर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्धो भवति तव सोऽपि नास्तीति चित्रं महदाश्चर्यं । पार्थिवनृपस्य घटस्य जलधेः विपराङ्मुखतारकत्वं युक्तं तस्य घटस्य कर्मविपाकशून्यता नास्ति । स तु घटः कर्मविपाकसहितः । जन्मैव जलधिस्तस्मात् । निजपृष्ठलग्नांस्तान् । पार्थिवानां नृपः स्वामी तस्य । घटपक्षे पृथिव्यां अयं पार्थिवः । ननु मनुष्यान् जलदानेन पातीति नृपः । पार्थिवश्चासौ नृपश्च पार्थिवनृपस्तस्य । कर्मणां बन्धः अष्टकर्मणां विपाक उदयस्तेन शून्यः । घटपक्षे कर्मवह्निपाकः पचनं तेन शून्यो न । अत्र श्लेषालंकारः ॥२६॥

अन्वयार्थ—(नाथ !) हे स्वामिन् ! (त्वम्) आप (जन्मजलधेः) संसाररूप समुद्रसे (विपरांगमुखः अपि सन्) पराङ्मुख होते हुए भी (यत्) जो (निजपृष्ठलग्नान्) अपने पीछे लगे हुए अनुयायी (असुमतः) जीवोंको (तारयसि) तार देते हो, ('तत्') वह (पार्थिवनृपस्य सतः) राजाधिराज अथवा मिट्टीके पके हुए घड़ेकी तरह परिणमन करनेवाले (तव) आपको (युक्तम् एव) उचित ही है। परन्तु (विभो !) हे प्रभो ! ('तत' चित्रम्) वह आश्चर्यकी बात है (यत्) जो आप (कर्मविपाकशून्यः असि) कर्मोंके उदयरूप पाक क्रियासे रहित हो।

भावार्थ—जिस तरह घड़ा पानीमें अधोमुख होकर अपनी पीठपर स्थित लोगोंको नदी-नाले आदिसे पार करा देता है, उसी तरह आप यद्यपि राग न होनेसे संसार-समुद्रसे पराङ्मुख रहते हैं, तथापि अपने अनुयायियोंको उससे पार लगा देते हैं—मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। पर जब घड़ा अग्निसे पकाया हुआ हो तभी पानी में तैर कर दूसरोंको पार कराता है। कच्चा घड़ा पानीमें गलकर घुल जाता है। किन्तु आप पाक रहित हो, यह आश्चर्यकी बात है। उसका परिहार यह है, कि आप कर्मोंके उदयसे रहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। श्लोकमें आये हुए विपाक शब्दके दो अर्थ हैं—आगसे किसी कोमल मिट्टीकी वस्तुका कठोर होना और कर्मों का उदय आना ॥२९॥

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं
किंवाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ! ।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः ॥३०॥

विश्वेश है तदपि दुर्गत नाथ ! है तू,
है अक्षरप्रकृति भी अलिपि प्रभो ! तू।
अज्ञान है कुछ तथापि फुरे सदा ही,
सुज्ञान नाथ ! तुझमें जगका विकाशी ॥३०॥

टीका—जनान्पालयतीति जनपालकः तस्यामन्त्रेण हे जन-पालक ! त्वं विश्वेश्वरोऽपि त्रैलोक्यनाथोऽपि सन् दुर्गतः दरिद्रः कथमिति विरोधः शब्दतः। द्रष्टुं ज्ञातुमशक्यं गत ज्ञानं यस्य सः। वा अथवा भो ईश भो विभो ! त्वं अक्षरप्रकृतिर् वर्णस्वरूपोऽपि अलिपिः कथं। अक्षरा अविनश्वरा प्रकृतिः स्व-भावो यस्य सः। न विद्यते लिपिर्मोहो यस्य सः। यः अक्षर-प्रकृतिः क्षरतीति क्षरः न क्षरतीति अक्षरः सो लिपिर्न भवति इति शब्दतो विरोधः नार्थतः। भो जिन ! त्वयि सदैव अज्ञान-वत्यपि सति ज्ञानरहितेऽपि सति कथंचिदेव विश्वविकासहेतु ज्ञानं स्फुरति। योऽज्ञानवांस्तस्मिन् ज्ञानं क्वेति शब्दतो विरोधः नार्थतः। अज्ञान्प्राणिनोऽवतीति तस्मिन्। विश्वेषां विकाशः प्रकटीकरणं तस्य हेतुर्निदानं ॥३०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(जनपालक) हे जीवों के रक्षक ! (त्वम्) आप (विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः) तीन लोकके स्वामी होकर भी दरिद्र हैं, (किं वा) और (अक्षरप्रकृतिः अपि त्वम् अलिपिः) अक्षर-स्वभाव होकर भी लेखन-क्रियासे रहित हैं। (ईश) हे स्वामिन् ! (कथंचित्) किसी प्रकारसे (अज्ञानवति अपि त्वयि) अज्ञानवान् होने पर भी आपमें (विश्वविकासहेतु ज्ञानम् सदा एव स्फुरति) सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान हमेशा स्फुरायमान रहता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलङ्कार है। विरोधाभास अलङ्कारमें शब्दके सुनते समय तो विरोध मालूम होता है, पर अर्थ विचारने पर बादमें उसका परिहार हो जाता है। जहाँ इस अलङ्कारका मूल श्लेष होता है, वहाँ बहुत हो अधिक चमत्कार पैदा हो जाता है। देखिये—भगवन् ! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत हैं। यह पूरा विरोध है। भला, जो जगत्का ईश्वर है, वह दरिद्र कैसे हो सकता है ? विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत=कठिनाईसे जाने जा सकते हैं। इसी तरह आप अक्षरप्रकृति=अक्षर स्वभाव-वाले होकर भी अलिपि लिखे नहीं जा सकते। यह विरोध है। जो क ख आदि अक्षरों जैसा है, वह लिखा क्यों न जावेगा ? परन्तु दोनों शब्दोंका श्लेष विरोधको दूर कर देता है। आप अक्षरप्रकृति-अविनश्वर स्वभाववाले होकर भी अलिपि=आकार रहित हैं—निराकार हैं। इसी प्रकार अज्ञानवति अपि अज्ञान युक्त होने पर भी आपमें विश्वविकाशि ज्ञानं स्फुरति संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान स्फुरायमान होता है, यह विरोध है। जो अज्ञानयुक्त है, उसमें पदार्थोंका ज्ञान कैसा ? पर इसका भी नीचे लिखे अनुसार परिहार हो जाता है—अज्ञान अवति अपि त्वयि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञानी मनुष्योंकी रक्षा करनेवाले आपमें हमेशा केवलज्ञा
जगमगाता रहता है ॥३०॥

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायापि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरय, मेव परं दुरात्मा ॥३१॥

आँधी चलाय रजशैल उड़ा-उड़ाके,
जो क्रोध से कमठ ने नभ छा दिया है।
तेरी न छाँह तक नाथ ! छुई इन्होंने,
उल्टा उसी कुटिल को घबरा लिया है ॥३१॥

टीका—भो नाथ ! शठेन मूर्खेण । कमठेनेति कमठच संवरनाम ज्योतिष्कदेवेन । रोषात् पूर्वोपार्जितवैरात् । यानि रजांसि उत्थापितानि तैः । स्वरजोभिः तव भगवतश्छाया प्रतिबिम्बमपि न हतं न स्पृष्टं । अपि तु परं केवलं अमीभिः अय मेव पापीयान् कमठ एव ग्रस्तः मलिनीकृतः । कथंभूतोऽय ? हत आशा यस्य स हताशः । प्राग्भारेण सामस्त्येन संभृतं व्याप्तं नभ येस्तानि ॥३१॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (शठेन कमठेन) दु कमठके द्वारा (रोषात्) क्रोधसे (प्राग् भारसम्भृतनभांसि सम्पूर्ण रूपसे आकाशको व्याप्त करनेवाली (यानि) जो (रजांसि धूल (उत्थापितानि) आपके ऊपर उड़ाई गई थी (तैः तु उससे तो (तव) आपकी (छाया अपि) छाया भी (न हता) नहीं नष्ट हुई थी, (परम्) किन्तु (अयमेव दुरात्मा) यही दु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(हृताशः) हताश हो (अमीभिः) कर्मरूप रजोंसे (ग्रस्तः) जकड़ा गया था।

भावार्थ—जब भगवान् पार्श्वनाथ तपस्या कर रहे थे, तब उनके पूर्वभवके बैरी कमठके जीवने उनपर धूल उड़ाकर भारी उपसर्ग किया था। लोकमें यह देखा जाता है कि जो सूर्यपर धूल फेंकता है, उससे सूर्यकी जरा भी कान्ति नष्ट नहीं होती, पर वही धूलि फेंकनेवालेके ऊपर गिरती है। श्लोकमें आये हुए रज शब्दके दो अर्थ हैं—एक धूलि, दूसरा कर्म। कमठके जीवने भगवान् पर उपसर्ग कर कर्मोंका बन्ध किया था, इस बातको कविने लोक-प्रचलित उक्त उदाहरणसे स्पष्ट किया है ॥३१॥

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम-
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥३२॥

गर्जे महा कड़क के बिजली पड़े त्यों-
पानी गिरे भयद मूसलधार होके।
की दुष्ट ने कठिन दुस्तर वारि वर्षा,
उसके लिये वह हुई तरवारि-वर्षा ॥३२॥

टीका—भो जिन ! यत् दैत्येन कमठदानवेन दुस्तरवारि दुर्द्धरपानीयं मुक्तं भवान् दध्रे। अथ पुनस्तस्य कमठस्य तेनैव पानीयेन दुस्तरवारिकृत्यं जातं। दुस्तरं दुस्सहं यत् वारि दुस्तर-वारि दुष्ठु यो हि तरवारिश्चंचत्खड्गस्तद्वत्कृत्यं यस्य तत् एवविधं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समजनि । कथंभूतं दुस्तरवारि ? गर्जिता ऊर्जिता महत्तरा ये घन मेघास्तेषां ओघा यस्मिंस्तत् । मुसलवन्मांसलाः स्थूला घोर भयदा धारा यस्मिंस्तत् ।।३२।।

अन्वयार्थ—(अथ) और (जिन) हे जिनेश्वर ! (दैत्येन) उस कमठने (गर्जदूर्जितघनौघम्) खूब गर्ज रहे हैं बलिष्ठ-मेघ-समूह जिसमें (भ्रश्यत्तडित्) गिर रही है बिजली जिसमें और (मुसलमांसलघोरधारम्) मूसलके समान है बड़ी मोटी धारा जिसमें ऐसा तथा (अदभ्रभीमम्) अत्यन्त भयङ्कर (यत्) जो (दुस्तरवारि) अथाह जल (मुक्तम्) वर्षाया था (तेन) उस जलवृष्टि से (तस्य एव) उस कमठने ही अपने लिये (दुस्तर-वारिकृत्यम्) तीक्ष्ण तलवारका काम अर्थात् व्रण कर लिया था ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप पर मूसलधार पानी वर्षाकर कमठके जीवने उपसर्ग किया था, उससे आपका क्या बिगड़ा ? परन्तु उसीने अपने लिये 'दुस्तरवारिकृत्ये' दुष्ट तलवारका कार्य अर्थात् घाव कर लिया—ऐसे कर्मोंका बन्ध किया जो तलवारके समान दुःखदायी हुए थे । श्लोकमें 'दुस्तरवारि' शब्द दो बार आया है, उनमेंसे पहलेका अर्थ कठिनाईसे तरने योग्य जल है और दूसरेका अर्थ दुष्ट तरवारि-तलवार है ।।३२।।

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रतिभवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याऽभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ।।३३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अंगार को उगलता नर-मुंड धारे,
सूखे कुकेश, विकराल शरीरवाला।
जो प्रेत-वृन्द तव नाथ ! समीप भेजा,
उसको हुआ वह भवों-भव दुःखदायी ॥३३॥

टीका—भो परमेश्वर ! यः प्रेतव्रजो भूतसमूहः भवंतं श्रीमत प्रत्यपि। ईरितः प्ररितः। स प्रेतव्रजः। अस्य कमठस्य। प्रतिभव भवं प्रति। भवस्य संसारस्य। दु खानां हेतुः। अभूत् बभूव। प्रतानां व्रजः प्रेतव्रजः। ध्वस्ता विस्तारिता ये ऊर्ध्वकेशास्तैविकृता विकारिण्य आकृतयो येषां ते ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतय एवंविधा ये मर्त्यास्तेषां मुण्डानि कपालानि तेषां प्रालम्बमालां बिभर्तीति। पुनः कथं प्रेतव्रजः ? भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः भयदायि यद्वक्त्रं तस्माद्विनिर्यन्तः निःसरन्तोऽग्नयो यस्य सः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(तेन असुरेण) उस असुरके द्वारा (ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद) मुंड़ हुए तथा विकृत आकृतिवाले नर कपालोंकी मालाको धारण करनेवाला और (भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः) जिसके भयङ्कर मुखसे अग्नि निकल रही है, ऐसा (यः) जो (प्रेतव्रजः) पिशाचोंका समूह (भवन्तम् प्रति) आपके प्रति (ईरितः) प्रेरित किया गया था—दौड़ाया गया था (सः) वह (अस्य) उस असुरको (प्रतिभवम्) प्रत्येक भवमें (भवदुःखहेतुः) संसारके दुःखोंका कारण (अभवत्) हुआ था।

भावार्थ—हे भगवन् ! कमठके जीवने आपको तपस्यासे विचलित करनेके लिये जो पिशाच दौड़ाये थे, उनसे आपका कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी बिगाड़ नहीं हुआ, परन्तु उस पिशाचको ही भारी कर्मबन्ध हुआ, जिससे उसे अनेक भवोंमें दु ख उठाने पड़े ।।३३।।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-
मारधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ।।३४।।

रोमाञ्च गद्गद प्रफुल्लित देह होके,
आराधना तव पदाम्बुज की महेश !
जो भक्तिपूर्वक करें विधि से त्रिकाल,
वे धन्य हैं जगत् में जन देहधारी ।।३४।।

टीका—भो भुवनाधिप ! भो विभो ! भुवि पृथिव्यां । ते एव जन्मभाजो धन्याः पुण्यवंतः ते के ? ये जन्मभाजः प्राणिनः त्रिसंध्यं त्रिकालं । भक्त्या श्रद्धया । तव विभो । पादद्वयं चरणकमलं । विधिवत् विध्युक्तप्रकारेण । आराधयन्ति निषेवन्ते । कीदृशास्ते ? विधूतानि स्फेटितानि अन्यानि कृत्यानि यैस्ते । पुनः उल्लसन्तश्च ते पुलकाश्च तैः पक्ष्मलाः कलंकिता व्याप्ता वा देहस्य शरीरस्य प्रदेशा येषां ते ।।३४।।

अन्वयार्थ—(भुवनाधिप) हे तीन लोकके नाथ ! (ये) जो (जन्मभाजः) प्राणी, (विधुतान्यकृत्याः) जिन्होंने अन्य काम छोड़ दिये हैं और (भक्त्या) भक्तिसे (उल्लसत् पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः) प्रकट हुए रोमाञ्चोंसे जिनके शरीरका प्रत्येक अवयव व्याप्त है, ऐसे (सन्त) होते हुए (विधिवत्) विधिपूर्वक (त्रिसन्ध्यम्) तीनों कालोंमें (तव) आपके (पादद्वयम्) आरा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धयन्ति) चरणयुगलकी आराधना करते हैं। (विभो) हे स्वामिन् ! (भुवि) संसारमें (ते एव) वे ही (धन्याः) धन्य हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारमें उन्हींका जन्म सफल है, जो भक्तिपूर्वक आपके चरणोंकी आराधना करते हैं ॥३४॥

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥३५॥

संसार-वारि-निधि में पड़ के कदाचित्,
मैंने सुना न जगदीश्वर नाम तेरा।
जो नाम मंत्र सुनता अति ही पवित्र,
आती विपद् विषधरी किस भाँति पास ? ॥३५॥

टीका—भो मुनीश ! अहमेव मन्ये इति सम्भावयामि । इतोत्ति किं ? अस्मिन् प्रत्यक्षगोचरीभूते । अपारवारिनिधौ अगाधसंसारसमुद्रे । मे मम । श्रवणगोचरतां कर्णयमलप्रत्यक्षभावं । त्वं न गतोऽसि न प्राप्तोऽसि । अपारो अगाधो यो भव एव वारिनिधिस्तस्मिन् । श्रवणयोः कर्णयोः गोचरता प्रत्यक्षभावता तां । वा अथवा । तव भगवतो गोत्रपवित्रमन्त्रे तव भगवतः पावनमन्त्रे । आकर्णितेऽपि सति । विपद्विषधरी आपद्भुजंगी । किं सविधं समीपं । समेति आगच्छति ? अपि तु न समेतीत्यर्थः । गोत्रं नाम तल्लक्षणो यः पवित्रमन्त्रस्तस्मिन् । विपदेव विषधरी सर्पिणी विपद्विषधरी ॥३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(मुनीश) मुनीन्द्र ! (मन्ये) मैं समझता कि आप (अस्मिन् अपारभववारिनिधौ) इस अपार संसाररू समुद्रमें कभी भी (मे) मेरे (कर्णगोचरताम् न गतः असि कानोंकी विषयताको प्राप्त नहीं हुए हो। क्योंकि (तु) निश्चयसे (तव गोत्रपवित्रमन्त्रे) आपके नामरूपी मन्त्रके (आकर्णिते 'सति' सुने जानेपर (विपद्विषधरी) विपत्तिरूपी नागिन (किम् वा क्या (सविधम्) समीप (समेति) आती ? अर्थात् नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मैं संसारमें अनेक दुःख उठा रह हूं, उससे विश्वास होता है कि मैंने कभी भी आपका पवित्र नाम नहीं सुना ॥३५॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

हैं पूज्य ! वाञ्छित फलप्रद पाँव तेरे,
पूजे न पूर्व भव में भगवान् मैंने।
है बात सत्य इससे इस जन्म में मैं,
हूं जो पराभव मनोरथ-भंग-पात्र ॥३६॥

टीका—हे देव ! अहमेवं मन्ये मया जन्मान्तरेऽपि एकस्मिन् जन्मन्यपि। तवार्हतं। पादयुगं चरणद्वन्द्वं। न महितं न पूजित मित्यर्थः। एकस्माज्जन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्मिन्। कीदृ पादयुगं ? ईहितं अभिलषितं तस्य दानं प्रदानं तत्र दक्षं। अ मुनीश ! तेन कारणेन भवचरणाऽपूजनहेतुना इह जन्मनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवांतरेऽपि । अहं पराभवानां आपदां । पात्रं स्थानं । जातोऽस्मि अभूवं । कथंभूतानां पराभवानां ? मथितः विलोडितः आशयश्चित्तं यैस्ते तेषाम् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (मन्ये) मैं मानता हूं कि मैंने (जन्मान्तरे अपि) दूसरे जन्ममें भी (ईहितदानदक्षम्) इच्छित फल देनेमें समर्थ (तव पादयुगम्) आपके चरण युगल (न महितम्) नहीं पूजे, (तेन) उसीसे (इह जन्मनि) इस भवमें (मुनीश) हे मुनीश ! (अहम्) मैं (मथिताशयानाम्) हृदयभेदी (पराभवानाम्) तिरस्कारोंका (निकेतनम्) घर (जातः) हुआ हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो मैं तरह तरहके तिरस्कारोंका पात्र हो रहा हूं, उससे स्पष्ट पता चलता है कि मैंने आपके चरणों की पूजा नहीं की । क्योंकि आपके चरणोंके पुजारियोंका कभी किसी जगह भी तिरस्कार नहीं होता ॥३६॥

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

मोहान्धकारवश लोचन मूंद मैंने,
तेरे न दर्शन किये पहले अवश्य ।
जो बात है न यह तो फिर क्यों सताते,
ये मर्मवेधक अखंड अनर्थ आके ? ॥३७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो विभो ! नूनं निश्चितं। मोह एव तिमिराणि अंधकाराणि तैरावृते उज्झंपिते छादिते लोचने यस्य स तेनैवंविधे मया। पूर्वं प्रागेव। सकृदपि एकवारमपि। त्वं न प्रविलोकितोऽसि नयनगोचरीभावं न गतोऽसि। हि युक्तोऽयमर्थः। अन्यथा चेत् हि मम नयनगोचरीभावं गतश्चेत्। एते अनर्थाः जन्ममृत्युजरादयः मां कथं विधुरयंति पीडयंति? कथंभूता अनर्थाः? प्रोद्यन्तः उदीयमानाः प्रबधानां कर्मबन्धानां गतयो येषु ते। पुनः कथंभूताः मर्माविधो मर्मभेदकाः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! (मोहतिमिरावृत लोचनेन) मोहरूपी अन्धकारसे ढँके हुए हैं नेत्र जिसके ऐसे (मया) मेरे द्वारा आप (पूर्वम्) पहले कभी (सकृद् अपि) एकबार भी (नूनम्) निश्चयसे (प्रविलोकितः न असि) अच्छी तरह अव-लोकित नहीं हुए हो—अर्थात् मैंने आपके दर्शन नहीं किये (अन्यथा हि) नहीं जो (प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः) जिनमें कर्मबन्ध की गति बढ़ रही है ऐसे (ऐते) ये (मर्माविधः) मर्मभेदी (अनर्थाः) अनर्थ (माम्) मुझे (कथम्) क्यों (विधुरयन्ति) दुःखी करते ?

भावार्थ—भगवन्! मैंने मिथ्यात्वके उदयसे अन्धे होकर कभी भी आपके दर्शन नहीं किये। यदि दर्शन किये होते तो आप ये दुःख मुझे दुःखी कैसे करते? क्योंकि आपके दर्शन करनेवालों को कभी कोई भी अनर्थ दुःख नहीं पहुंचा सकते ॥३७॥

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाःप्रतिफलन्ति न भावशून्याः।३८।

मैंने सुदर्शन किये, गुन भी सुने, की
पूजा, तथापि हिय में न तुझे बिठाया।
हूं दुःख-पात्र जनबांधव ! मैं इसी से,
होती नहीं सफल भाव बिना क्रियाएँ ।।३८।।

टीका—भो विभो ! मया अज्ञानिना। त्वं आकर्णितोऽपि समवसरणलक्ष्मीविराजमान एवं श्रुतोऽपि। एवंविधस्त्वं। महितोऽपि पूजितोऽपि। एवविधस्त्वं। निरीक्षितोऽपि। नूनं निश्चितं। चेतसि मनसि। भक्त्या सम्यक्त्वपूर्वकं। न विधृतोऽसि। हे जनानां बांधव ! तेनैव हेतुना अहं। दुःखानां पात्रं जातोऽस्मि सर्वदुःखस्थानं अभूवं। यस्मात्कारणाद्भावशून्याः सम्यक्त्वरहिताः क्रियाः न प्रतिफलंति। भावेन शून्या भावशून्याः ।।३८।।

अन्वयार्थ—अथवा (जनबान्धव) हे जगद्बन्धो ! (मया) मेरे द्वारा आप (आकर्णितः अपि) आकर्णित भी हुए हैं (महितः अपि) पूजित भी हुए हैं और (निरीक्षितः अपि) अवलोकित भी हुए हैं, अर्थात् मैंने आपका नाम भी सुना है, पूजा भी की है और दर्शन भी किये हैं, फिर भी (नूनम्) निश्चय है कि (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (चेतसि) चित्तमें (न विधृतः असि) धारण नहीं किये गये हो। (तेन) उसीसे (दुःखपात्रम जातः अस्मि) दुःखों का पात्र हो रहा हूं (यस्मात्) क्योंकि (भावशून्याः) भाव रहित (क्रियाः) क्रियाएँ (न प्रतिफलन्ति) सफल नहीं होतीं।

भावार्थ—इससे पहिले तीन श्लोकोंमें कहा गया था कि हे भगवन् ! मैंने 'आपका नाम नहीं सुना' 'चरणोंकी पूजा नहीं की'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रौर 'दर्शन नहीं किये' इसलिये मैं दुःख उठा रहा हूं। अब इ श्लोकमें पक्षान्तररूपसे कहते हैं कि मैंने आपका नाम भी सुन पूजा भी की, श्रौर दर्शन भी किये, फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते, उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है. कि मैंने भक्ति पूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल आडम्बररूपसे ही उन कामोंको किया है न कि भावपूर्वक भी। यदि भावसे करता तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते ॥३८॥

त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य ! ।
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय
दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥३९॥

हे दीनबन्धु ! करुणाकर ! हे शरण्य !
स्वामिन् ! जितेन्द्रिय ! वरेण्य ! सुपुण्यधाम !
हूं भक्ति से प्रणत मैं करके दया तू,
हे नाथ ! नाश कर दे सब दुःख मेरे ॥३९॥

टीका—भो शरण्य शरणाय अहं ! भो नाथ ! भो दुःखि-जनानां वत्सल बांधव ! भो कारुण्यपुण्यवसते ! हे वशिनां वरेण्य ! हे यतीनां श्रेष्ठ ! हे महेश ! मयि विषये। दयां कृपां। विधाय। दुःखानां अंकुरास्तेषां उद्दलनं निराकरणं तत्र तत्परस्तस्य भाव-स्तां विधेहि कुरु। कथंभूते मयि ? भक्त्या नते नम्रीभूते। भो नाथ ! हे पार्श्वनाथ ! हे जन बांधव ! मम दुःखानि निवारय मोक्षं देहीति तात्पर्यार्थः ॥३९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ ! (दुःखिजनवत्सल) हे दुखियों-पर प्रेम करनेवाले ! (हे शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (कारुण्यपुण्यवसते) हे दयाकी पवित्रभूमि ! (वशिनाम् वरेण्य !) हे जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ ! और (महेश) हे महेश्वर ! (भक्त्या) भक्तिमें (नते मयि) नम्रीभूत मुझपर (दयाम् विधाय) दया करके (दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परताम्) मेरे दुःखाङ्कुरके नाश करनें में तत्परता-तल्लीनता (विधेहि) कीजिये ।

भावार्थ—आप शरणागत प्रतिपालक हैं, दयालु हैं और समर्थ भी हैं। इसलिये आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे दुःखोंको दूर करने के लिये तत्पर हूजिये ।।३९।।

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्य-

मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदानम् ।

त्वत्पादपंकजमपि प्रणिधानवन्ध्यो

वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ।४०।

माहात्म्यवान, शरणागत-शान्तिदायी,
शत्रु-प्रणाशकर हैं तव पादपद्म ।
पाके उन्हें सफल जो न हुआ प्रभो ! तो,
हे लोकपावन ! मुनीश्वर ! हा मरा मैं ।।४०।।

टीका—हे भुवनपावन हे त्रैलोक्यपावन ! चेत् यदि । त्वत्पादपंकजमपि तव चरणकमलमपि । आसाद्य प्राप्य । प्रणिधानेन वन्ध्यः । पुनः पुनश्चिन्तनरहितस्तर्हि बंध्योऽस्म्यहं अहं निष्फल एव । तव पादा एव पंकजं त्वत्पादपंकजं । हा इति खेदे हतोऽस्मि पीडितोऽस्मि । कथंभूतं त्वत्पादपंकजं ? निःसंख्याः संख्यारहिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये साराः पदार्थास्तेषां शरणं गृहं। पुनः कथंभूतं ? सादिता रिपव कर्मवैरिणो येन तत्। पुनः कथंभूतं ? प्रथितो विख्यातोऽवदातो महिमा यस्य तत् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(भुवनपावन) हे संसारको पवित्र करनेवाले भगवन् ! (निःसंख्यसारशरणम्) असंख्यात श्रेष्ठ पदार्थोंके घरके (शरणम्) रक्षा करनेवाले (शरण्यम्) शरणागत प्रतिपालक और (सादितरिपुप्रथितावदातम्) कर्मशत्रुओंके नाशसे प्रसिद्ध है, पराक्रम जिनका ऐसे (त्वत्पादपङ्कजम्) आपके चरणकमलों को (आसाद्य अपि) पाकर भी (प्रणिधानवन्ध्यः) उनके ध्यान से रहित हुआ मैं (वन्ध्यः अस्मि) अभागा-फलहीन हूं, और (तत्) उससे (हा) खेद है कि मैं (हतः अस्मि) नष्ट हुआ जा रहा हूं। अर्थात् कर्म मुझे दुःखी कर रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके पवित्र और दयालु चरणोंको पाकर भी जो मैं उनका ध्यान नहीं कर रहा हूं, उससे मेरा जन्म निष्फल जा रहा है, और मैं कर्मोंके द्वारा दुःखी किया जा रहा हूं ॥४०॥

देवेन्द्रवन्द्य ! विदिताखिलवस्तुसार !
संसारतारक ! विभो भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव ! करुणाह्रद ! मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥४१॥

सर्वज्ञ देव ! सुरनायक ! पूजनीय !
संसार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं हूं दयाधन ! दुखी मुझको बचाओ,
संसार से, कर पवित्र तथा मुझे दो ।।४१।।

टीका—देवेन्द्राणां वंद्यः पूज्यस्तस्यामंत्रणे हे देवेन्द्रवंद्य ! । विदितो ज्ञातोऽखिलवस्तूनां सर्वपदार्थानां सारस्तात्पर्यं येन स तस्यामंत्रणे हे विदिता खिलवस्तुसार ! संसारे भवाब्धौ तारयतीति तस्यामंत्रणे हे संसारतारक ! हे भुवनाधिनाथ ! । हे देव ! । करुणाया ह्लदः समुद्रः तस्यामंत्रणे हे करुणाह्लद ! । मां भक्तजनं । त्रायस्व पाहि । भो देव ! अद्य भयदो भयदायी यो व्यसनानां आपदां अम्बुराशिः सागरस्तस्मात् । पुनीहि पवित्रय रक्ष । कथंभूतं मां ? सीदन्त दुःखितं दुःखेन पीडितम् ।।४१।।

अन्वयार्थ—(देवेन्द्रवन्द्य) हे इन्द्रोंके वन्दनीय ! (विदिताखिलवस्तुसार) हे सब पदार्थोंके रहस्यको जाननेवाले ! (संसारतारक) हे संसार-समुद्रसे तारनेवाले ! (विभो) हे प्रभो ! (भुवनाधिनाथ) हे तीन लोकके स्वामिन् ! (करुणाह्लद) हे दयाके सरोवर ! (देव) देव ! (अद्य) आज (सीदन्तम्) तड़पते हुए (माम्) मुझको (भयदव्यसनाम्बुराशेः) भयङ्कर दुःखोंके समुद्रसे (त्रायस्व) बचाओ, और (पुनीहि) पवित्र करो ।

भावार्थ - हे भगवन् ! आप हरएक तरहसे समर्थ हैं, इसलिये आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे इस दुःख-समुद्रसे डूबनेसे बचाइये और हमेशाके लिये कर्म-मैलसे रहित कर दीजिये ।।४१।।

यद्यस्ति नाथ ! भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसंचितायाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः
स्वामी ! त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ।।४२।।

मैंने विभो ! सतत की तव पाद-भक्ति,
एकत्र होय उसका फल जो जरा भी ।
है प्रार्थना बस यही "इस लोक में क्या,
क्या अन्य लोक बिच हो मम नाथ तू ही" ।।४२।।

टीका—भो नाथ ! भो शरण्य ! यदि चेत् भवदंघ्रिसरोरुहाणां श्रीमच्चरणकमलानां भक्तेः किमपि फलं अस्ति चेत् तर्हि मे मम अत्र भुवने इह जन्मनि भवांतरेऽपि वा त्वमेव स्वामी प्रभुर्भूया भवतात् । कथं भूताया भक्तेः ? सन्तत्या निरतरेण संचिता कृता तस्याः । कथंभूतस्य मे ? त्वमेव एकं अद्वितीयं शरणं यस्य स तस्य ।।४२।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ ! (त्वदेकशरणस्य, मे) केवल आप ही की है शरण जिसको ऐसे मुझे (सन्ततसञ्चितायाः) चिरकालसे सञ्चित-एकत्रित हुई (भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्) आपके चरण-कमलोंकी (भक्तेः) भक्तिका (यदि) यदि (किमपि फलम्) अस्ति) कुछ फल हो, (तत्) तो उससे (शरण्य) हे शरणागत प्रतिपालक ! (त्वम् एव) आप ही (अत्र भुवने) इस लोकमें और (भवान्तरे अपि) परलोकमें भी (स्वामी) मेरे स्वामी (भूयाः) होवें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्तुति कर मैं आपसे अन्य किसी फलकी चाह नहीं रखता । सिर्फ यह चाहता हूं कि आप ही मेरे हमेशा स्वामी रहें । अर्थात् जबतक मुझे मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब तक आप ही मेरे स्वामी रहें। "तुम होहु भव भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूं" ।।४२।।

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र !,
सांद्रोल्लसत्पुलककञ्चुकितांगभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या,
ये संस्तवं तव विभो ! रचयंति भव्याः ।।४३।।

आर्या—

जननयनकुमुदचन्द्र ! प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलितमलनिचया अचिरात्मोक्षं प्रपद्यन्ते ।।४४।।

आनन्द में पुलक, गद्गद कंठ होके,
तेरे मुखाब्ज पर आँख लगा अनोखी—
जो चित्त को स्थिर किये विधि से महेश,
सप्रेम यों स्तव रचे तब भव्यजीव ।।४३।।

जननेत्र कुमुदचन्द्र। प्रभो ! सभी स्वर्ग-सम्पदा नीको।
भोगें व फिर जल्दी निर्मल हो मोक्ष को पावें ।।४४।।

टीका—भो जिनेन्द्र भो विभो ! ये भव्याः प्राणिनः शुद्ध-सम्यक्त्वधारिणो जनाः। तव भगवतो। जिनस्य संस्तवन यथार्थ-स्तोत्रं। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण। विधिवत् यथाविधि रचयंति। कथंभूता भव्या? समाहिता सावधाना धो बुद्धिर्येषां ते। पुनः कथंभूताः? सांद्रः निबिडः उल्लसन् यो हि पुलकः कंटकस्तेन कंचुकिताः कवचिता अंगभागा शरीरप्रदेशा येषां ते। पुनः कथं-भूताः? तव बिम्बं त्वद्बिम्बं तस्य निर्मलं यन्मुखाम्बुज मुखकमलं तत्र बद्धं लक्ष्यं येस्ते ।।४३।। जनानां भव्यानां नयनान्येव कुमुदानि कैरवाणि तत्र चन्द्रस्तस्यामंत्रणे हे जननयनकुमुदचन्द्र ! ते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भव्याः । स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा स्वर्गसाम्राज्यं परिभुज्य । अचिरा स्वल्पकालेन । मोक्षं प्रपद्यंते लभंते । कीदृश्यः स्वर्गसम्पदः प्रभास्वराः प्रकर्षेण भास्वराः दीप्यमानाः । कथंभूता भव्याः विगलितो मलनिचयो येषां ते विगलितमलनिचयाः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र विभो !) हे जिनेन्द्र देव ! (ये भव्याः) जो भव्यजन (इत्थम्) इस तरह (समाहितधियः) सावधानबुद्धिसे युक्त हो (त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः) आपके निर्मल मुख-कमल पर बांधा है लक्ष्य जिन्होंने ऐसे तथा (सान्द्रोल्लसत्पुलककंचुकिताङ्गभागाः) सघनरूपसे उठे हुए रोमांचोंसे व्याप्त हैं शरीरके अवयव जिनके ऐसे (सन्तः) होते हुए (विधिवत्) विधिपूर्वक (तव) आपका (संस्तवम्) स्तवन (रचयन्ति) रचते हैं, (ते) वे (जननयनकुमुदचन्द्र[१]) हे प्राणियोंके नेत्ररूपी कुमुदों-कमलोंको विकसित करने के लिये चन्द्रमाकी तरह शोभायमान देव ! (प्रभास्वराः) देदीप्यमान (स्वर्गसम्पदः) स्वर्ग की सम्पत्तियोंको (भुक्त्वा) भोगकर (विगलितमलनिचयाः 'संतः') कर्मरूपी मल-समूहसे रहित हो (अचिरात्) शीघ्र ही (मोक्षं प्रपद्यन्ते) मुक्तिको पाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो भक्तिसे गद्गद चित्त हो आपकी स्तुति करते हैं, वे स्वर्गके सुख भोग बहुत जल्दी आठ कर्मोंको नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

"स्वर्गनके सुख भोगकर, पावे मोक्ष निदान ।"

इति श्रीकुमुदचन्द्राचार्यं अपरनाम श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण प्रणीतं कल्याणमन्दिरस्तोत्रं-श्रीपार्श्वनाथस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

---

१. कविने श्लेषसे 'कुमुदचन्द्र' यह अपना नाम भी सूचित कर दिया है। कविका दूसरा नाम 'सिद्धसेनदिवाकर' भी था ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

श्रीमद्वादिराजसूरिकृत

एकीभावस्तोत्रम्

(टीकाद्वय-संयुक्तम्)

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो ।
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति ॥
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

पं० भूधरदास कृत पद्यानुवाद

वादिराज मुनिराजके, चरण कमल चित लाय ।
भाषा एकीभावकी, करूं स्वपर सुखदाय ॥
जो अति एकीभाव भयो मानो अनिवारी ।
सो मुझ कर्म प्रबन्ध करत भव भव दुख भारी ।
ताहि तिहारी भक्ति जगतरवि जो निरवारै ।
तो अब और कलेश कौन सो नाहि विदारै ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत टीका—जिनेषु रविः सूर्यस्तस्यामंत्रणे हे जिनरवे! कर्मबन्धः अष्टकर्मणां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्विधो बंधः स घोरं निविडं दुःखं करोति विदधाति। कीदृशः कर्मबन्धः मयासह एकी गत इव—एकत्वमापन्न इव। पुनः भव भवगतः प्रतिभवंगतः पुनः दु वारयितुमशक्यः दुर्निवारः। तस्य कर्मबन्धस्य अस्यापि दुःखस्यापि यदि त्वयि भगवति विषये भक्तिः तर्हि उन्मुक्तये उन्मोचनाय भवति तथावद्तया भक्त्या कृत्वा कः अपर स्तापहेतुः की वा जेतुं न भवति ? जयो भवतीत्यर्थः। भो जिन ! संसार संतापं त्वद्भक्ति वि कोपि जेतुं शक्तो न भव तीति तात्पर्यम्। अपितु जेतुं शक्य इत्यर्थः

अन्वयार्थ—हे (जिनरवे) हे जिनसूर्य ! (मया-सह) मेरे आत्माके साथ (स्वयं) अपने आप (एकीभावं) तन्मयता (गतइव) प्राप्त हुये की तरह (दुर्निवारः) बड़ी कठिनाई से करने योग्य (यः) जो (कर्मबंध) ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार अथवा प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेशके भेद-से होने वाले चार प्रकार का-कर्मबन्ध (भवभवगतः) [सन्] प्रत्येक पर्याय साथ जाता हुआ (घोरम्) भयानक (दुःखम्) दुःखको (करोति) करता है। (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (भक्ति) भक्ति अनुरागविशेष (चेत्) यदि (तस्यापि अस्य) उस कर्मबन्ध और इस दुःखके भी (उन्मुक्तये) छुड़ाने-दूर करने के लिये है (तर्हि) तो फिर (तया) उस भक्ति के द्वारा (अपरः) दूसरा (कः) कौन (तापहेतुः) सन्तापका कारण (जेतुं शक्यः न भवति) जीता नहीं जा सकता ? अर्थात् अवश्य जीता जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब कि आपकी समीचीन भक्ति के द्वारा चिरपरिचित और अत्यन्त दुःखदायी एवं आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिले हुये कर्मबन्ध न भी दूर किये जाते हैं तब दूसरा ऐसा कौनसा सन्ताप का कारण है जो कि उस भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता अर्थात् दुःखके सभी कारण नष्ट किये जा सकते हैं ।।१।।

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतु,
त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः ।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ।२।

तुम जिन ज्योतिस्वरूप, दुरितअंधियार निवारी ।
सो गणेश गुरु कहै, तत्व विद्या-धन धारी ।।
मेरे चित-घरमाँहि, बसौ तेजोमय यावत ।
पापतिमिर अवकाश, तहां सो क्योंकर पावत ।।२।।

टीका—जिनेषु गणधरदेवेषु वरः श्रेष्ठस्तस्यामंत्रणे हे जिनवर ! चिरं चिरकालं तत्त्वविद्याभियुक्ताः तत्वज्ञानिनोगणधर-देवादयः त्वामेव ज्योतीरूपं परंतेजः स्वरूपं अर्हं इत्याहुः भणन्ति तत्त्वविद्याभिः अभियुक्ताः संयुक्ताः तत्त्वविद्याभियुक्ताः ज्योति स्तेजः एवरूपं यस्य स त । कीदृशं त्वां—दुरितानां पापानां निवहः समूहः स एव ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वंसस्यहेतुः कारणं तं भो देव च पुनः मम चेतोवासे मनोगृहे स्फारं बहुलं यथास्यात्तथा उद्भासमानः दीप्यमानः सन् त्वं भवसि जातोसि । तस्मिन्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोगृहे अंहः पापं तदेव तमोऽधकारं । कथमिव किमिव ? वस्तुतो-निश्च याद् वस्तुं स्थातुं ईष्टे स्थितिं करोति अपितु न ईष्टे इत्यर्थं ।।२।

अन्वयार्थ—(हे जिनवर) कर्म शत्रुओंको जीतने वालों श्रेष्ठ हे जिनेन्द्र ! जब कि (तत्वविद्याभियुक्ताः) तत्वज्ञा गणधरादिदेव (चिरं) चिरकाल से (त्वाम् एव) आपको (दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं) पापसमूहरूपीअंधकार के न करने में कारणभूत (ज्योतीरूपम्) तेजरूप·ज्ञानस्वरूप (आहु कहते हैं। (च) और आप (मम) मेरे (हमारे) (चेतोवा मनरूपी मंदिर में (स्फारं) अत्यन्त रूपसे निरंतर (उद्भासमा प्रकाशमान (भवसि) हो रहे हो तब (तस्मिन्) उस मन मन्दि में (वस्तुतः) निश्चय से (अंहः) (तमः) पापरूपी अन्धक (वस्तुं) निवास करने के लिये- ठहरने के लिये (कथमिव) कि तरह (ईष्टे) समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ—हे नाथ जब कि आपको, अतिशय बुद्धि के धा गणधरादि देवोंने, पापरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य समान कहा है और आप मेरे मन-मन्दिरमें अच्छी तरह प्रकाशमान भी हो रहे हैं, तब उसमें पापरूपी अन्धकार कै ठहर सकता है ? अर्थात् जो आपको अपने हृदयमें धारण कर है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।।२।।

आनन्दाश्रु स्नपित वदनं गद्गदं चाभिजल्पन,
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहः-बल्मीक-मध्या-
न्निष्कास्यन्ते*विविध विषमव्याधयः काद्रवेयाः ।३।

आनंद आँसु वदन धोय तुमसों चित सानै,
गद्‌गद सुरसों सुयशमंत्र पढ़ि पूजा ठानै।
ताके बहुविधि व्याधि व्याल चिरकालनिवासी,
भाजें थानक छोड़ देह—वाँबईके वासी ॥३॥

टीका—यः कश्चित् पुमान् भवंतं त्वां स्तोत्रमंत्रैः कृत्वा स्तवन-रूपमंत्रैः आनन्दाश्रुभिः हर्षाश्रुभिः स्नपित वदनं यत्र तत् यथास्या-त्तथाचायेत् पूजयेत् च स्तुतिं कुर्यात्। च पुनः हर्षात्, गद्गदं अव्यक्तशब्दं अभिजल्पन् कथंभूतो यः त्वयि परमेश्वरे दृढं निश्चलं मनोयस्य सः। एकाग्रचित्तः तस्य पुरुषस्य देहवल्मीकमध्यात् विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः नानाविधविषमरोगलक्षणाः सर्पाः निष्कासन्ते बहिः निर्गच्छन्ति। देहः शरीरं स एव बल्मीकस्तस्य मध्यं तस्मात्। विविधानानाप्रकारा विषमश्चते व्याधयश्च विविधविषमव्याधयः। कद्रोरपत्यानि काद्रवेयाः कथम्भूताः विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः सुचिरं चिर अभ्यस्ता अपि चिरं निवसिता अपि विविधविषयव्याधयः। इति पाठान्तरे विविधः नानाविधः विषयो येषां ते स्तोत्रमेवमंत्राः स्तोत्रमंत्रास्तैः स्तोत्रमंत्रैः ॥३॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! (आनन्दाश्रु स्नपितवदनं च गद्‌गदं)

---

* निष्कासन्ते पाठः ग पुस्तके वर्तते। संस्कृत टीका कारने भी इसी पाठ को अपनाकर व्याख्या की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आनन्दाश्रुओं-हर्षरूपी आंसुओंसे मुखको प्रक्षालित करता हुआ और अव्यक्त ध्वनिसे (अभिजल्पन्) स्तुति करता हुआ (यः) जो मनुष्य (स्वयं) आपमें (दृढ़मनाः) स्थिर चित्त होकर (स्तोत्रमंत्रैः) स्तवनरूप मंत्रों से (भवन्तम्) आपको (अर्चयेत्) पूजता है-स्तुति करता है। (तस्य) उसके (सुचिरम्) चिरकालसे (अभ्यस्तात् अपि) परिचित भी (देह वल्मीक मध्यात्) शरीररूपी वामीके मध्यसे-बीचसे (विविध-विषमव्याधयः) अनेक प्रकारके कठिन रोग रूपी (काद्रवेयाः) सांप (निष्कास्यन्ते) बाहर निकाल दिये जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार समोचीन मंत्रों की सामर्थ्यसे वामीके मध्य भागसे सांप बाहर निकाल दिये जाते हैं ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्रके स्तवन रूप मंत्रोंसे, स्तवन-पूजन करने वाले भव्य पुरुषोंकी विषम विषयरूप व्याधियाँ भी दूर करदी जाती हैं। अर्थात् जो मनुष्य भक्ति पूर्वक-श्रद्धासे सम्पन्न होकर एकाग्रचित्त से जिनेन्द्र भगवान का पवित्र स्तवन करता है उसके पुरातन विषम रोग भी दूर हो जाते हैं और उसका शरीर निरोग बन जाता है ॥३॥

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्-
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्येत्वयेदम्।
ध्यानद्वारं ममरुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि ।४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिवितैं आवनहार भये भविभाग उदयबल,
पहले ही सुरआय कनकमय कीय महीतल।
मनगृहध्यानदुवार आय निवसो जगनामी,
जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी ॥४॥

टीका—भो देव–भव्यपुण्यात् त्रिदिव भुवनात् स्वर्गलोकात् इहलोके एष्यता समागमिष्यता त्वया परमेश्वरेण प्रागेवपूर्वमेव इदं पृथ्वीचक्रं भूवलयं रत्नवृष्टयादिभिः कनकमयतां सुवर्णमयतां निन्ये नीतं। त्रिदिवः स्वर्गस्तस्य भवनं गृह विमानं वा तस्मात्। भव्यानां पुण्यं भव्यपुण्यं तस्मात् एष्यतीति एष्यंस्तेन एष्यता। पृथ्व्याश्चक्रं पृथ्वीचक्रं। कनकविकारं कनकमयंतस्यभावस्तां। हे जिन! मम स्वान्तगेहं ममान्तःकरणंमंदिरं त्वं प्रतिष्ठः सन् यत् इदं मदीयं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णीकरोषि, तत्किंचित्रं तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः। असुवर्णं सुवर्णं करोषि, इति सुवर्णीकरोषि। स्वान्तमेव गेहं स्वान्तगेहं कीदृशं स्वान्तगेहं। ध्यानमेवद्वारं यस्मिन् तत्। पुनः रुचिकरोतीति रुचिकरं मनोहरमित्यर्थः ॥४॥

अन्वयार्थ—(हे देव!) हे भगवन्! (भव्यपुण्यात्) भव्यजीवोंके पुण्यके द्वारा (इह) यहांपर (त्रिदिवभवनात्) स्वर्गलोकसे माता के गर्भ में (एष्यता) आनेवाले (त्वया) आपके द्वारा (प्राक्एव) पहले ही जब (इदम्) यह (पृथ्वीचक्रम्) भूमण्डल पृथ्वी मण्डल (कनकमयतां) सुवर्णमयता को (निन्ये) प्राप्त कराया गया था। तब (हे जिन!) हे जिनेन्द्र! (ध्यानद्वारं) ध्यानरूपी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दरवाजे से युक्त (मम) मेरे (हमारे) (रुचिकरम्) सुन्दर (स्वान्तगेहं) मनरूपमन्दिर में (प्रविष्टं) प्रविष्ट हुए (इदं वपुः) इस शरीरको-कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीरको (यत्) जो (सुवर्णीकरोषि) सुवर्णमय कर रहे हो (तत्किंचित्रम्) उसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जब कि स्वर्गलोकसे माता के गर्भ में आने के छः महीने पहले ही आपने इस पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमय बना दिया तो फिर ध्यान के द्वारा मेरे मनोहर अन्तः करणरूप मन्दिर में प्रविष्ट हुये आप कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को यदि सुवर्णमय बना दें तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं ॥४॥

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु-
स्त्वय्येवाऽसौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका ।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन् मामिकां चित्तशय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥५॥

प्रभु सब जगके बिनाहेत, बांधव उपकारी,
निरावरण सर्वज्ञ शक्ति जिनराज तिहारी ।
भक्ति रचित ममचित्त सेज नितवास करोगे,
मेरे दुख-संताप देख किम धीर धरोगे ॥५॥

टीका—हे भगवन् ! त्वं एक अद्वितीयो लोकस्य निर्निमित्तेन निष्कारणेन बांधवो वर्तसे । त्वय्येवासौ शक्तिः सकल विषया वर्तते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयो यस्याःसा । कथंभूताशक्तिः अप्रत्यनीका प्रतिषेधरहिता । कीदृशींतां मामिकां मदीयां चित्तशय्यां चिरं चिरकालं अधिवसन् । ममेयं मामिकां तां, चित्तमेवशय्या चित्तशय्या तां । कीदृशीं चित्तशय्यां भक्त्या-स्फीतां महतीभक्तिः तया स्फीता तां । यतः कारणात् निष्कारणं बंधुस्तत् कारणात् मय्युत्पन्नं क्लेशयूथं कष्टसमूहं कथमिव सहेथाः किमिव सहनं कुर्वीथा, क्लेशानां यूथ क्लेशयूथम् ।।५।।

अन्वयार्थ — (हे भगवन् !) हे भगवन ! जब (त्वम्) आप (लोकस्य) संसार के प्राणियों के (निर्निमित्तेन) स्वार्थ रहित-बिना किसी प्रयोजन के (एकः) अद्वितोय (बन्धुःअसि) बन्धु-हिरकरने वाले हो । और (असौ) यह (सकलविषयाशक्तिः) सब पदार्थों को विषय करने वालो शक्ति भी (त्वयि) आपमें हो (अप्रत्यनीका) बांधा रहित है । (ततः) तब (भक्तिस्फीताम्) भक्ति के द्वारा विस्तृत (मामिकां) मेरी-हमारी (चित्तशय्याम्) मन रूपी पवित्र शय्या पर (अधिवसन्) निवास करने वाले आप (मयिउत्पन्नम्) मुझ में उत्पन्न हुए (क्लेशयूथम्) दुःख समूह को (कथमिव) कैसे (सहेथाः) सहन करोगे, अर्थात् नहीं करोगे ।

भावार्थ—हे नाथ आप संसारी जीवों के अकारण बन्धु हैं और आपकी सकल पदार्थ विषयक यह अपूर्व एवं अनन्तशक्ति प्रतिपक्षी कर्मों के प्रतिघात से रहित है, क्योंकि वह कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई है । फिर आप चिरकाल तक हमारे पवित्र मन मन्दिर में निवास करते हुए भी क्या हमारे दुःखों को नाश नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करेंगे अर्थात् अवश्य ही करेंगे। जो भद्र मानव आपका भक्ति पूर्वक निरन्तर ध्यान एवं चिंतन करता है उसके दुःख दूर होना तो सहज ही है किन्तु उसके जटिल कर्मों का बन्धन भी ढीला पड़ कर नष्ट हो जाता है और आत्मा विकसित होता हुआ परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है ॥५॥

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तवनयकथा स्फारपीयूषवापी!
तस्या मध्ये हिमकर हिमव्यूहशीतेनितान्तं,
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥६॥

भव वनमें चिरकाल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई,
तुम थुति कथा पियूष वापिका भागन पाई।
शशितुषार घनसार हार शीतल नहिं जासम,
करत न्हौन तामांहि क्यों न भवताप बुझै मम ॥६॥

टीका—हे देव! भो स्वामिन्! मया जन्माटव्यां भवारण्ये दीर्घं भ्रमित्वा कथमपि महताकष्टेन इयमेव तव भगवतः नयकथास्फारपीयूषवापी अनेकान्तमतोदारसुधारसदीर्घिका प्राप्ता लब्धा जन्मैवअटवी जन्माटवी तस्यां जन्माटव्यां, नयकथैवस्फारपीयूषवापी नयकथास्फारपीयूषवापी तस्यावापिकाया मध्ये नितान्तमतिशयेन निर्मग्नं मां दुःखदावोपतापाः कृच्छादावानलपरितापाः कथं न जहति किं न त्यजन्ति? अपि जहतीत्यर्थः। दुःखान्येव दावाः दुःखदावास्तेषां उपतापाः। कथंभूतायाः मध्ये हिमकरश्चन्द्रस्तस्य व्यूहः समूहस्तद्वत् शीते शीतले इत्यर्थः ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! (मया) मेरे द्वारा (जन्माटव्यां) संसार रूपी अटवी में (दीर्घं) बहुत काल तक (भ्रमित्वा) घूमकर अथवा घूमने के बाद-(तव) आपकी (इयम्) यह (नयकथा) स्याद्वाद नय कथा रूपी (स्फारपीयूषवापी) बड़ी भारी अमृत रस से भरी हुई बावड़ी (कथमपि) किसी तरह बड़े कष्ट से (प्राप्ताएव) प्राप्त ही कर ली गई है। फिर भी, (हिमकरहिमव्यूहशीते) चन्द्रमा और बर्फ के समूह से भी शीतल (तस्याः) उसके (मध्ये) बीचमें (नितान्तम्) अत्यन्त रूप से (निर्मग्नं) डूबे हुए (माम्) मुझको (दुःखदावोपतापाः) दुःख रूपी दावानल को सन्ताप (कथं न जहति) क्यों नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! मुझे इस संसाररूप विषम अटवी में भ्रमण करते हुए और दुखों को सहते हुये अनन्तकाल बीत गया है। अब मुझे बड़े भारी भाग्योदय से यह आपकी स्याद्वाद-नय रूप अमृतरस से भरी हुई वापिका-बावड़ी प्राप्त हुई है जो चन्द्रमा और बर्फ से भी अत्यन्त शीतल है। ऐसी वापिका में उन्मज्जन करते हुए मेरे क्या थोड़े से दुःख सन्ताप दूर न होंगे ? किन्तु अवश्य ही दूर होंगे ॥६॥

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासोभवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः ॥
सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनोमे,
श्रेयः किं तत् स्वयमहरहर्यन्नमामभ्युपैति ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री विहार परिवाह होत शुचिरूप सकल जग।
कमल कनक आभाव सुरभि श्रीवास धरतपग ॥
मेरो मन सर्वंग परस प्रभुको सुख पावं ।
अवसो कौन कल्यान जोन दिन दिन ढिग आवै ॥७॥

सं. टीका—हे भगवन् ! ते तव पादन्यासादपि भवच्चरणारोपणादपि पद्मः कमलं हेमाभासोभवति। हेमवदाभासा यस्य सच पु पद्मः तव पादन्यासात् श्रीनिवासः लक्ष्म्या गृहं भवति। श्रियाः निवा श्रीनिवासः, कथंभूतस्य तव यात्रया भव्य प्राणि प्रबोधार्थं विहार क्रमेण त्रिलोकीं पुनतः पवित्रयतः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकीं तां। हेदेव त्वयि परमेश्वरे सर्वाङ्गेण सर्वं शरीरेण मे मम अशेषं मनो करणं स्पृशति सति तत्किं श्रेयो वर्तते। यत्श्रेयःकल्याणं हेमाभासादि स्वयमेव अहरहः प्रतिदिनं मां न अभ्युपैति मां न प्राप्नोति अपि अभ्युपैति इत्यर्थः ॥७॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (यात्रया) विहार के द्वारा (त्रिलोकीम) तीनों लोकों को (पुनतः) पवित्र करने वाले (ते) आपके (पादन्यासादपि) चरणों के रखने मात्र से ही जब (पद्म) कमल (हेमाभासः) सुवर्ण सी कान्ति वाला (सुरभिः) सुगन्धित (च) और (श्रीनिवास) लक्ष्मी का गृह—शोभा का स्थान हो जाता है। तब (हे भगवन्) हे स्वामिन् ! (त्वयि) आपके (मे) मेरे (अशेषम्) समस्त (मनः) मन को (सर्वाङ्गेण) सर्वअङ्गों के द्वारा (स्पृशतिसति) स्पर्शकरने पर (तत्) वह (किश्नेयः?)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कौनसा कल्याण है ? (यत्) जो (माम्) मुझे (अहरहः) प्रतिदिन (स्वय) अपने आप (नअभ्युपैति) प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ– सकल परमात्मा अरहंत जब जीवन्मुक्तरूप सयोग केवली अवस्था में विहार करते हैं तब उनके विहार से तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं, और देव गण उनके पवित्र चरणों के नीचे कमलों की रचना कर दिया करते हैं और वे कमल जब जिनेन्द्र देव के चरणों के स्पर्श से सुवर्णसी कान्ति वाले सुगन्धित एवं लक्ष्मी के निवास बन जाते हैं। तब मेरा मन आप को सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श कर रहा है अर्थात् मेरे मन मन्दिर में चैतन्य जिन प्रतिमा का सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श हो रहा है। अतएव मुझे कल्याणकों का प्राप्त होना उचित ही है। जो भव्यप्राणी जिनेन्द्र भगवान का निष्कपट रूप से भक्तिपूर्वक स्मरण चिंतन एवं ध्यान करता है उसे सर्व सुख प्राप्त होते ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥७॥

पश्यन्तं त्वद्वचममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं,
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम्।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैक भूमिं,
क्रूराकाराः कथमिवरुजा कण्टका निर्लुठन्ति ॥८॥

भवतज सुखपद बसे काममदसुभट संहारे।
जोतुमको निरखंत सदा प्रियदास तिहारे॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम वचनामृतपान भक्ति अंजुलिसों पीवै।
तिन्हें भयानक क्रूररोगरिपु कैसे छीवै ॥८॥

सं. टीका—भो देव ! रुजा कंटकाः गदलक्षणा कंटकाः पु कथमिव निलुंठन्ति पीडयन्ति । न निलुंठन्तीत्यर्थः । रुजा एव कंट "रुग्रुजा चोपजाता ये रोगव्याधिगदामयाः इति हलायुधः । कं पुरुषं त्वां परमेश्वरं पश्यन्तं विलोकयन्तं । पुनः त्वद्वचनममृतं भक्ति पा पिबन्तं तव वाक्यामृतं तव वचनं भक्तिरेव पात्री स्थाली भक्ति पात्री पुनः कर्मारण्या-दसमानन्दधाम प्रविष्टं । कर्मैव अरण्यं वनं कर्मा तस्मात् । असमं अतुल्यं यत् आनन्दधामहर्षमन्दिरं तत्र प्रविष्टस्तं । भूतं ? त्वां दुर्वार। यो हि स्मरः कामस्तस्य मदान् हरति तं । कं पुरुषं तवप्रसादास्त्वत्प्रसादः त्वत्प्रसाद एव एका अद्वितीया। भूमिर्यस्य तं । कीदृशाः रुजा रोगा एव कण्टकाः क्राकारः क्रूराः कठिनाः प्र येषां ते ॥८.।

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (कर्मारण्यात्) कर्मरुपीवन से (अ मानन्दधाम प्रविष्टम्) अनुपम सुख के स्थान मोक्ष में प्रवि हुए, तथा (दुर्वारस्मरमदहरं) दुर्जय कामदेव के मदको ह करने वाले आपको (पश्यन्तम्) देखने वाले और (भक्तिपा भक्ति रूपी कटोरीसे (त्वद्वचनममृतम्) आपके वचन रूपी अ को पीने वाले अतएव (त्वत्प्रसादैकभूमिम्) आपकी प्रसन्नता स्थानभूत पुरुषको (क्रूराकाराः) भयकर आकार वाले (रु कण्टकाः) रोग रूपी कांटे (कथमिव ?) किसतरह (निलुंठ सता सकते हैं-पीड़ा दे सकते हैं ? अर्थात् नहीं दे सकते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! कर्म रूपी वन से निकल कर आपने अनुपम अनंत सुखस्वरूप आनन्दधाम को प्राप्त किया है तथा आप दुर्जय कामदेवके मदको हरण करने वाले हैं आपको देखने वाले और भक्ति रूपी पात्र से आपके अमृत रूपी वचनों को पाने वाले भव्य पुरुषों को फिर क्रूर आकार वाले रोग रूपीमयी कांटे कैसे पीड़ा दे सकते हैं ? अर्थात् नहीं दे सकते ॥८॥

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः ।
दृष्टि प्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥९॥

मानथंभ पाषान आन पाषान पटंतर ।
ऐसे और अनेक रतन दीखैं जग अंतर ॥
देखत दृष्टि प्रमान मान मद तुरत मिटावै ।
जो तुम निकट न होय शक्ति यह क्योंकर आवै ॥९॥

टीका—मानस्तम्भः पाषाणात्मासन् तदितरसमः अन्य पाषाण सदृशो भवति, तस्मात् पाषाणाद् इतरस्तेन समः । च पुनः केवल रत्नमूर्तिः रत्नमयः परं केवलं रत्नवर्गः रत्नराशिस्तादृशो वर्तते स मानस्तम्भः ! दृष्टि प्राप्तः दृष्टि सन् दर्शनमात्रादेव नाराणां लोकानां मानरोगं अहंकाररोगं कथं हरति ? केन प्रकारेण निराकरोति ? यदि चेत् तस्य मानस्तम्भस्य भवतः परमेश्वरस्य प्रत्यासत्ति। सामीप्यम् न भवेद् । दृष्टि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्तः दृष्टिप्राप्तः मान एव रोगो मानरोगस्तं । कीदृशस्य भवतः त मानस्तम्भस्य मानरोगहरणे शक्तिः तस्या हेतुः कारणं तस्य ॥६॥

अन्वयार्थ—हे देव ! (पाषाणात्मा) पत्थररूप (मानस्तम्भः) मानस्तम्भ (तदित-रसमः) दूसरे पत्थरों के समान ही है (केवलम्) सिर्फ (रत्नमूर्तिः) रत्नमयी है परन्तु (परःरत्नवर्गः) दूसरे रत्नोंका समूह भी वैसा ही है-ऐसा होने पर (यदि) यदि (तस्य) उस मानस्तम्भ की (तच्छक्तिहेतुः) वैसी शक्ति में कारण स्वरूप (भवतः) आपकी (प्रत्यासत्तिः) निकटता न होती तो (सः) वह मानस्तम्भ (दृष्टिप्राप्तः) देखने मात्र से ही (नराणां) मनुष्यों के (मानरोगं) मान-अहंकार रूपी रोग को (कथंहरति ?) कैसे हर सकता है ? अर्थात् नहीं हर सकता ।

भावार्थ—पत्थर का बना हुआ मानस्तम्भ भी दूसरे साधारण पत्थरोंके समान ही है । रत्नमय होना उसकी कोई विशेषता नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसके समान और भी रत्न होते हैं परन्तु उनमें मान हरण करने की शक्ति नहीं होती, इस कारण से मानस्तम्भ में मनुष्यों के मान हरण करने की शक्तिका अस्तित्व मालूम नहीं होता । अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी ऐसी शक्ति में आपकी समीपता ही कारण है । यदि आपकी समीपता न होती तो गौतम जैसे महामानी विद्वानों का अभिमान कैसे दूर होता ? इस कारण उस रत्नमयी मानस्तम्भ में यह अपूर्वशक्ति आपके प्रसाद से ही प्राप्त हुई जान पड़ती है ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्ति शैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजा धूलिबंधं धुनोति ।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ।१०॥

प्रभुतन पर्वतपरस पवन उरमें निवहै है ।
तासों ततछिन सकल रोगरज बाहिर ह्वै है ॥
जाके ध्यानाहूत बसो उर अंबुज माहीं ।
कौन जगत उपकार करन समरथ सो नाहीं ॥१०॥

टीका—हे देव भवन्मूर्तिशैलोपवाही मरुदपि वायुरपि हृद्यः अनुकूलः प्राप्तः सन् पुंसांजनानां सद्यस्तत्कालं निरवधिरुजो धूलिबंधं निर्मर्यादं रेणु॰ समूहं धुनोति स्फोटयति । भवतः मूर्ति शरीरं सैव शैलः पर्वतस्तं उपवह्-तीति निरवधयः मर्यादारहिताः या रुजाः रोगास्तएव धूलयस्तासांबन्धः समूहस्तं । तु पुनस्त्वं ध्यानाहूतः सन् यस्य प्राणिनो हृदयकमल प्रविष्टः तस्य प्राणिनः इह भुवने कःलोकोपकारः अशक्योभवति । अपि तु न कोपीत्यर्थः ध्यानेन आहूतः आकारितः ध्यानाहूतः । हृदयमेव कमलं हृदय-कमलं, लोकानां उपकारःलोकोपकारः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! जब (भवन्मूर्तिशैलो-पवाही) आपके शरीर रूपी पर्वतके पास से बहने वाली (हृद्यः) मनोहर (मरुद्अपि) हवा भी (प्राप्तः) [सन्] प्राप्त होती हुई (पुंसां) पुरुषों के (निरबाधिरुजां धूलिबन्धम्) मर्यादारहित रोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपी धूली के संसर्गको (सद्यः) शीघ्रही (धुनोति) दूर कर दे है। (तु) तब (ध्यानाहूतः) ध्यान के द्वारा बुलाये गये (त्व आप (यस्य) जिसके (हृदयकमलं) हृदय रूपी कमल में (प्रवि प्रविष्ट हुए हैं (तस्य) उस पुरुष को (इहभुवने) इस संसार (कः) कौनसा (लोकोपकारः) लोगोंका उपकार (अशक्य अशक्य है-नहीं करने योग्य है। अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ—हे नाथ ! जबकि आपके शरीर के पाससे ब वाली वायु भी, लोगों के तरह तरह के रोग दूर कर देती है तब आप जिस भव्यपुरुष के हृदय में विराजमान हो जाते हैं संसार के प्राणियों का कौनसा उपकार नहीं कर सकता—अर्थ लोक की सच्ची-सजीव सेवा करना अथवा आहार पान औषधि के द्वारा दीन दुःखियों की सेवा कर उन्हें दुःख से उन्मुक्त कर तो सरल है। परन्तु जब कोई भद्रमानव जिनेन्द्र भगवान अपने हृदयवर्ती बना लेता है अर्थात् चैतन्य जिन प्रतिमा अपने हृदय कमल में अंकित कर लेता है, (और स्तुति पू ध्यानादि के द्वारा उनके पवित्र गुणों का स्तवन-पूजन वंदना किया करता है, एवं उनके नक्शे कदम पर चलकर तदनु प्रवृत्ति करने लगता है तब उस भव्य पुरुष के अनादिकाल कर्मबंधन भी उसी तरह शिथिल होने लगते हैं जिस तरह च के वृक्ष पर मोर के आने पर सर्पों के बन्धन ढीले पड़ कर नी खिसकने लगते हैं।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानासि त्वं मम भव भवे यच्च यादृक्च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि ।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥११॥

जनम जनम के दुःख सहे सब ते तुम जानो ।
याद किये मुझ हिये लगैं आयुध से मानों ॥
तुम दयाल जग पाल स्वामि मैं शरण गही है ।
जो कुछ करनी होय करो परमान वहो है ॥११॥

टीका—हे देव ! मम भव भवे प्रतिजन्मनि यच्च यादृक् च दुःखं नरकतिर्यंकनरदेवयोः संभवं जातं प्राप्तं । यस्य दुःखस्य स्मरणमपि मे मम शस्त्रवत् खड्गवत् निष्पिनष्टि चूर्णयति शतखंडी करोति । अत्र हिंसार्थ-धातुयोगात्, द्वितीयार्थे षष्ठी । तत्त्वं जानासि-वेत्सि । हे नाथ ! त्वं सर्वेषां प्राणिनामीशः स्वामी । च पुनः त्वं सकृप इति । किं कृपया सहवर्तमानः इति, अगाध मनस्यालोच्य त्वां त्रैलोक्यनाथं भक्त्या कृत्वा अहं उपेतोस्मि प्राप्तोस्मीति अगाधंभावः । तत्तस्मात्कारणात् इह तल्लक्षणे विषये यत्कर्तुं योग्यं कर्तव्यं देवः त्वमेव प्रमाणं निश्चयः अन्यथा न ॥११॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे भगवन् ! (मम) मुझे (भवभवे) प्रत्येक पर्यायमें (यत् च यादृक् च) जो और जैसा-जिस तरह का (दुःखम्) दुःख कष्ट (जातम्) प्राप्त हुआ है (तत् त्वं जानासि) उसको आप जानते ही हैं । और (यस्य) जिसका (स्मरणमपि) स्मरण भी (मे) मेरे लिये (शस्त्रवत्) शस्त्र के समान-तलवार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि अस्त्र के घात समान (निष्पिनष्टि) दुःख देता है और नाथ ! (त्वम्) आप (सर्वेशः) सबके स्वामी (च) और (सकृप दया से युक्त हैं–दयालु हैं। (इति) इस लिये (भक्त्या) भ पूर्वक (त्वाम् उपेतः अस्मि) आप के पास आया हूं-आप शरणमें प्राप्त हुआ हूँ। अतः अब (इहविषये) इस विषय (यत्कर्तव्यं) जो करना चाहिये उसमें (देव एव प्रमाणम्) आप प्रमाण हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस चतुर्गति रूप संसार में अना काल से भ्रमण करते हुए मैंने जो घोर दुःख भोगे हैं और भो रहा हूं। जिनका स्मरण करना भी शस्त्र घात के समान दुःखदा है। उनको आप अच्छी तरह से जानते ही हैं। आप सिर्फ जान ही नहीं हैं किन्तु सब के अकारण बन्धु और दयालु हैं। इस लिये मैं भक्ति पूर्वक आप की शरण में आया हूं। ऐसी दशा मुझे क्या करना चाहिये यह आप ही समझ सकते हैं। मैंने अपनी दशा आप के सामने प्रकट करदी है।

प्रापद्दैवं तवनुतिपदै र्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपिसौख्यं।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं,
जल्पन् जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥

मरण समय तुम नाम मंत्र जीवकतैं पायो।
पापाचारी श्वान प्रान तज अमर कहायो॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो मणि माला लेय जपै तुम नामनिरंतर।
इन्द्र सम्पदा लहै कौन संशय इस अन्तर ॥१२॥

टीका—भो विभो ! तव परमेश्वरस्य नुतिपदैः स्तोत्रपदैः कृत्वा सारमेयोऽपि कुक्करोऽपि दैवं सौख्यं प्रापत् प्राप्तवान्, देवस्येदं दैवं। कथं भूतैः तव नुतिपदैः। मरण समये-मरणावस्थायां जीवकेन क्षत्रियवंशचूड़ामणि श्री सत्यंधर महाराज पुत्रेण उपदिष्टैः कर्णे जपीकृतैः । कथंभूतः सारमेयः पापाचारी आजन्म पापमेवा चरतीत्येवंशीलः पापाचारी। भो देव ! यस्त्वन्नमस्कारचक्रं अमलैः मणिभिः जाप्यैः जल्पन् सन् शुद्धस्फटिक-मणिमुक्ताफलरजतसुवर्णप्रबालचंदनागुरुसंभवमणिभिः तव नमस्कारमंत्रं समभिजल्पन् वासवश्रीप्रभुत्वं-सौधर्मादिलक्ष्मीसाम्राज्यं उपलभते-प्राप्नोति। अत्र कः संदेहः किमाश्चर्यमत्र । तवनमस्कारास्त्वन्नमस्कारास्तेषां चक्रं वासव इन्द्र श्रीः लक्ष्मीः तस्याः प्रभुत्वमैश्वर्यम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब कि (मरण समये) मृत्यु के समय में (जीवकेन) जीवन्धरकुमारके द्वारा-क्षत्रियवंश चूड़ामणि सत्यंधर राजा के पुत्र जीवंधर कुमार के द्वारा (उपदिष्टैः) बताये गये (तव) आपके (नुतिपदैः) नमस्कार मंत्र के पदों के स्मरण एवं चिंतन से (पापाचारी) पापरूप प्रवृत्ति करने वाला (सारमेयः अपि) कुत्ता भी (दैवं) देव—स्वर्गलोक सम्बन्धी (सौख्यम्) सुखको (प्रापत्) प्राप्त हुआ है* तब (अमलैः) निर्मल (जाप्यैः)

---

* इसकी संक्षिप्त कथा इसप्रकार है—एक बार एक कुत्ते ने ब्राह्मणों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जपने योग्य माला को (मणिभिः) मनकाओं के द्वारा (त्वन्न-स्कारचक्रम्) आपके नमस्कार मंत्र को (जल्पन्) जपता हु मनुष्य (यत्) जो (वासवश्रीप्रभुत्वम्) इन्द्रकी विभूति के अधि-पतित्व को-स्वामी पने को (लभते) प्राप्त होता है। इस विषय (कःसन्देहः) क्यासन्देह है? अर्थात् इस में कोई सन्देह नहीं है।

भावार्थ—जब कि एक पापी कुत्ता भी मृत्यु के समय न जोवन भर जीवन्धर कुमार द्वारा बताए हुए मंत्राऽक्षरो के ध्या से यक्षोंका स्वामी यक्षेन्द्र हो सकता है तब निर्मल मणियों द्वारा आपके नमस्कारमंत्र का ध्यान करने वाला भद्रमानव य इन्द्रकी विभूति को प्राप्त करले तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्था कुछ नहीं ॥१२॥

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखा वंचिका कुंचिकेयम् ।

की हवन की सामग्री को दूषित कर दिया था, जिससे उन्होंने कुपित कर उस कुत्ते को मार डाला, जब वह शस्त्र घात से सिसकता और छट-पटा रहा था और अपने जीवन की अन्तिम सांसे ले रहा था। इतने क्षत्रिय वंश कुलतिलक जीवंधर कुमार ने उस कुत्ते को तड़फता हुआ देख कर 'णमोअरहंताणं' इत्यादि पंच परमेष्ठी वाचक मंत्र पढ़कर सुनाया जिससे उसके परिणामों में परम शांति हुई, और वह कुत्ता मर कर इस मंत्र के प्रभाव एवं माहात्म्यसे यक्षोंका अधिपति यक्षेन्द्र हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्योद्धाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढ महा मोह मुद्रा कवाटम् ॥१३॥

जो नर निर्मल ज्ञान मान शुचि चारित साधै।
अनवधि सुखकी सार भक्ति कूंची नहिं लाधै॥
सोशिव वाँछक पुरुष मोक्षपट केम उघारै।
मोह मुहर दिढ़ करी मोक्ष मंदिर के द्वारै॥१३॥

टीका—भो देव ! शुद्धे ज्ञाने शुचिनि-निरतिचारे-पवित्रे चरिते-आचरणे सत्यपि चेद्यदि त्वयि परमेश्वरे इयं अनीचा प्रबला भक्तिर्नो नैव, हि निश्चितं तर्हि मुक्तिकामस्य पुंसः मुमुक्षोः पुरुषस्य मुक्तेः द्वारं शक्योद्धाटं कथं भवति ? शक्यः उद्धाटोयस्यतत् ! मुक्ति कामयतीति मुक्ति कामः तस्य मुक्ति कामस्य। कथम्भूतं मुक्तेर्द्वारं ? परिदृढा निश्चला महामोहो मिथ्यात्वं तल्लक्षणमुद्रा ययोस्तौ एवं विधोकपाटो स एव कवाटं यस्मिन् तत्। कथंभूता भक्तिः ? कुंचिका। मुद्रा द्विधाकर्त्री पुनः अनवधि निर्मर्यादं यत् सुख तस्य अवंचिका-अप्रतारिणी ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (शुद्धे ज्ञाने) शुद्ध ज्ञान और (शुचिनिचरिते) निर्मल चारित्र के (सत्यपि) रहते हुए भी (चेत्) यदि (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (इयम्) यह (अनीचा भक्ति) उत्कृष्ट भक्ति-रूपी (अनवधिसुखावंचिका) अमर्यादित सुखों की कारण (कुंचिका) कुञ्जी ताली (नो) (चेत्) नहीं होवे, तो (हि) सचमुच में (मुक्तिकामस्य पुंसः) मोक्ष के अभिलाषी पुरुष को (परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्) अत्यन्त मजबूत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महामोहरूपी मुहरबन्द (ताले) से युक्त हैं किवाड़ जिसमें (मुक्ति द्वारम्) मोक्षके द्वार को (कथम् ?) किस तरह (शक्यो द्घाटम्) खोला जा सकता है ? अर्थात् नहीं खोला जा सकता।

भावार्थ—विशुद्धज्ञान और निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि जिनेन्द्र की भक्तिमय अथवा सम्यग्दर्शनरूप-कुञ्जी नहीं तो फिर महा मिथ्यात्वरूप मुद्रा से अंकित मोक्षमन्दिर का द्वार कैसे खोला जा सकता है ? अर्थात् भक्तिरूपी कुंचिका के बिना मुक्तिद्वार का खुलना नितान्त कठिन है। परन्तु जिस भद्रमानव के पास जिनेन्द्र की भक्तिरूपी अथवा सम्यग्दर्शनरूपी कुंजी है वह बहुत जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं। अतः मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को सबसे पहले सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना हो श्रयस्कर है ।।१३।।

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरंधकारैः समंता-
त्पंथामुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः ।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देवतत्त्वावभासी,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती रत्नदीपः ।।१४।।

शिवपुर केरो पंथ पापतमसों अति छायो ।
दुखसरूप बहू कूप खांडसों बिकट बतायो ।।
स्वामी सुखसों तहाँ कौन जन मारग लागें ।
प्रभु-प्रवचन मणि दीप जोतके आगें आगें ।।१४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो देव ! खलु निश्चितं अयं मुक्तेः पंथाः सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रलक्षणो मोक्षमार्गः अघमयैरंधकारैः मिथ्यात्वलक्षणैस्तिमिरैः समंतात् सर्वतः प्रच्छन्नः आच्छादितः । पुनः मुक्तेः पथा अगाधैः अतुलस्पर्शैः क्लेशगर्तैर्नरकादि दुःखैः कृत्वा स्थपुटितपदः विद्यते । स्थपुटितानि उच्च-नीचानि पदानि पादरोपणस्थानानि यस्मिन् सः । तत्तस्मात् कारणात् तेन दुस्तरेणमोक्षमार्गेण सुखतः सुखेनैव कः पुमान् व्रजति यातीतिभावः । कुतः यदि चेत् भवद्भारती रत्नदीपः तव दिव्यभाषाः अप्रतिहतरत्न प्रभा-दीपः अग्रे अग्रे न भवति । भवतो जिनेन्द्रस्य भारती भवद्भारती सैव रत्नदीपः भवद्भारतीरत्नदीपः । कथम्भूतः भवद्भारतीरत्नदीपः ? तत्त्वैः सप्ततत्त्वैः अवभासतेऽसौ तत्त्वावभासी ॥१४॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे स्वामिन् ! (खलु) निश्चय से (अयम्) यह (मुक्तेः) मोक्षका (पंथाः) मार्ग (अघमयैः) पापरूपी (अन्धकारैः) अन्धकार के द्वारा (समन्तात्) सब ओर से (प्रच्छन्नः) ढका हुआ है और (अगाधैः) गहरे (क्लेशगर्तैः) दुख-रूपी गड्ढों से (स्थपुटितपदः) विषम है-दुष्प्रवेश है ऐसी अवस्थामें (यदि) अगर (तत्त्वावभासी) सचाई का बतलाने वाला अथवा सप्ततत्त्वों के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाला (भवद्भा-रतीरत्नदीपः) आपकी वाणीरूपी दीपक का प्रकाश (अग्रे-अग्रे) आगे-आगे (न भवति) न होता (तत्) तो (तेन) उस मार्ग से (कः) कौन मनुष्य (सुखतः) सुख पूर्वक (व्रजति) गमन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे देव ! मुक्ति का मार्ग मिथ्यात्वरूप अज्ञा अंधकार से व्याप्त है आच्छादित है । और अगाध दुःखरूप गड्ढ से विषम है दुष्प्रवेश है । ऐसा होने पर भी यदि सप्ततत्त्वों स्वरूप को प्रकाशित करने वाला अथवा सप्त तत्त्वों के द्वा मोक्ष मार्गका निरूपण करने वाला-आपकी पवित्र दिव्यध्वनि वाणीरूपी दीपक का प्रकाश आगे-आगे नहीं होता, तो ऐसा कौ पुरुष है जो आपकी वाणीरूपी दीपक के प्रकाश के बिना ही कंटकाकीर्ण विषम मार्ग से सुखपूर्वक गमन कर सकता है ? अपने इष्टस्थान को सुगमता से प्राप्त करने में समर्थ हो सकता अर्थात् कोई नहीं । अस्तु; हे नाथ ! आपकी पवित्र वाणी दीपक के प्रकाश से ही संसारी जीव हेयोपादेयरूप तत्त्वों परिज्ञान करते हैं और उसी के अनुकूल आचरण कर कर्म बन्ध से छूटने का उपाय करते हैं । अर्थात् मोक्ष के साधक सम्यग्दर्श सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं उन्हें अ जीवन में उतारते हैं साथ ही, रत्नत्रय की पूर्णता एवं प प्रकर्षता से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों का समूल नाशकर कृत अवस्था को प्राप्त करते हैं और अनंत काल तक उस आत्मो अव्याबाध निराकुल सुख का अनुभव करते रहते हैं । यह वीतराग भगवान की उस दिव्यवाणी का ही माहात्म्य प्रभाव है ॥१४॥

आत्मज्योर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः ।
कर्मक्षोणी पटल पिहितो योऽनवाप्यः परेषां ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हस्ते कुर्वंत्यनति चिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः ।
स्तोत्रैर्बंध प्रकृति परुषो द्दाम धात्री खनित्रैः ॥१५॥

कर्म पटल भूमाँहि दबी आतमनिधि भारी ।
देखत अति सुखहोय विमुखजन नाँहि उघारी ॥
तुम सेवक तत्काल ताहि निहचै कर धारै ।
थुति कुदालसों खोद बंधभू कठिन विदारै ॥१५॥

टीका—हे देव ! यः आत्मज्योतिर्निधिः अनवधिर्वर्तते । आत्मज्योतिरेवनिधिः आत्मज्योतिर्निधिः । न विद्यते अवधिः मर्यादा यस्य सः लोकालोक व्यापक इत्यर्थः । कीदृशः आत्मज्योतिर्निधिः ? द्रष्टुः पुरुषस्य आनन्दहेतुः पश्यतीति द्दष्टा तस्य द्रष्टुः, आनन्दस्यहेतुः कारणं । पुनः कर्माण्येव क्षोणी पटलानि कर्मक्षोणिपटलानि तैः पिहितः आच्छादितः । पुनः परेषां प्राणिनां अनवाप्यः—अवाप्यते ऽसौ अवाप्यः न अवाप्यः अनवाप्यः । भो देव ! भवद्भक्तिभाजः पुमांसः तं आत्मज्योतिर्निधि स्तोत्रैः कृत्वा अनति चिरतः स्वल्पकाले नैवहस्ते कुर्वन्ति भवतः परमेश्वरस्य भक्ति भजते ते भक्तिभाजः कथंभूतैः स्तोत्रैः ? बंध प्रकृतयः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा बंधप्रकृतयः एव परुषाः कठिनाः उद्दामाः उत्कटाः या धरित्र्यः । खनित्राणि कुद्दालानि तैः स्तोत्रैर्बंधप्रकृतिपरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (आत्मज्योतिर्निधिः) यह आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति (कर्मक्षोणीपटल पिहितः) ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप पटलों से आच्छादित है ढकी हुई है और (यः द्रष्टुः आनन्दहेतुः) जो ज्ञानी पुरुष को आनन्द का कारण है इसलिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(परेषां अनवाप्यः) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्त है उन्हें प्रा नहीं हो सकती। किन्तु (भवद्भक्तिभाजः) आपकी भक्ति कर वाले भव्य पुरुष (तं) उस आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति को (बंध-प्रकृ पुरुषोद्दाम्धात्री खनित्रैः स्तोत्रैः) प्रकृति-स्थिति-अनुभाग औ प्रदेशबंधरूप अत्यन्त कठोर भूमि को खोदने के लिये कुदा स्वरूप आपके स्तवनों के द्वारा (अनतिचिरतः) शीघ्र ही (हस्ते कुर्वन्ति) अपने हाथ में कर लेते हैं उसे प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए धन को कुदाल कठोर भूमि को खोद कर निकाल लेते हैं। ठीक उसी प्रका ज्ञानी पुरुष ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप पुद्गल पिण्डों आच्छादित अपनी ज्ञानादिरूप आत्मसम्पदा को आप पवित्र स्तवनरूप कुदाल से कर्मबधनरूप अतिशय कठोर भू को खोद कर निकाल लेते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियों को वह न प्राप्त होती ॥१५॥

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
र्यदिव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्ति गंगा।
चेतस्तस्यां ममरुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः,
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेह भूमिः ॥१६॥

स्याद्वाद गिरि उपज मोक्ष सागर लौं धाई।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति गंगा सुखदाई ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोचित निर्मल थयो न्होन रुचि पू ख तामैं ।
सो वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं ॥१६॥

टीका—हे देव ! या प्रसिद्धाभक्ति गंगा भवद्भक्ति स्वधुंनी नयहिमगिरेः स्याद्वादनय रूपहिम पर्वतात् प्रत्युत्पन्ना ऽस्ति । नय एव हिमगिरिः हिमाचलस्तस्मात् भक्तिरेव गंगा भक्तिगंगा । कथम्भूता गंगा । च पुनः अमृताब्धेः मोक्षसागरस्य आयता मिलिता । च पुनः या गंगा त्वत्पदकमलयोः तवचरणकमलयोः संगता आश्रिता । तवपदकमले त्वत्पदकमले तयोः । तस्यां गंगायां ममचेतो ममान्तः करणंरुचिवशात् स्नेह योगात् आलुप्तं स्नातमित्यर्थः । यदन्तः करणं क्षालितांहः भवति । इयं किं सन्देह भूमिः सन्देह स्थानं ? क्षालितं अंहः कल्माषं पापरजो यस्य तत् सन्देहभूमिः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे नाथ ! (नयहिमगिरेः) स्याद्वादनयरूप हिमालय पर्वत से (प्रत्युत्पन्ना) उत्पन्न हुई (च) और (अमृताब्धः) मोक्षरूपी समुद्र तक (आयता) लम्बी (या) जो यह (त्वत्पदकमलयोः) आपके चरण कमल सम्बन्धी (भक्तिगंगा) भक्तिरूपी गंगानदी (सङ्गता) प्राप्त हुई है (तस्यां) उसमें (रुचिवशात्) प्रेमके वश (आप्लुतम्) डूबा हुआ (मम) मेरा-हमारा (चेतः) मन (यत्) जो (क्षालितांहःकल्माषं) जिसकी पापरूपी कालिमा धुल गई है ऐसा-पापरूपी रजसे रहित (भवति) हो जाता है । (देव !) हे नाथ (इयम्) यह (किम्) क्या कोई (सन्देहभूमिः) सन्देह का स्थान है ? अर्थात् नहीं है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे नाथ! स्याद्वादनयरूप हिमालयसे निकली मोक्षरूपी समुद्र तक लम्बी यह आपकी भक्तिरूपी गंगा मुझे भारी भाग्योदय से प्राप्त हुई है, गंगा में स्नान करने से तरह शरीर का बाह्य मैल धुल जाता है और वह स्वच्छ जाता है। उसी प्रकार आपकी भक्तिरूपी गंगा में स्नान करने उसमें गोता लगाने से-यदि मेरे अन्तःकरण की पापरूप कालि धुल कर मेरा मन पवित्र-राग-द्वेषादि विभावभावों से रहि निर्विकार हो जाय, तो इसमें क्या सन्देह है? अर्थात् नहीं ॥१६॥

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मति रुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपितनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवंति ॥१७॥

तुम शिवसुखमय प्रगट करत प्रभुचिंतन तेरो।
मैं भगवान समान भाव यों वरतै मेरो॥
यदपि झूठ है तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै।
तुम प्रसाद सकलंक जीव वांछि फल पावै ॥१७॥

टीका—भो देव! प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतं स्थिरपदसुखं मोक्षपदस्य सुखं यस्त (त तस्यामंत्रणे हे) प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं मे ममत्वयि विषये। अहमेव इतिमतिः उत्पद्यते। कथम्भूतस्य मे? त्वामनुध्यायतः अनुध्यायतीति अनुध्यायन् तस्य। कीदृशीमतिः? निर्विकल्पा निःसन्देहा इत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकल्पा निष्क्रान्तानिर्विकल्पा । तदपिचेत् इयं मतिः अभ्रेषरूपां तृप्ति निश्चलरूपां तृप्ति मिथ्यैव तनुते विस्तारयते। दोषात्मानो ऽपि पुमांसः त्वत्प्रसादात् तवप्रसादतः अभिमतफलाः भवन्ति। अभिमतं फलं येषां ते ॥१७॥

अन्वयार्थ—(हे देव ! प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं !) प्रकट हुआ है मोक्ष का निश्चलसुख जिनको ऐसे (हे वीतरागदेव) (त्वामनुध्यायतः मे) आपका बार-बार ध्यान करते हुए मेरे हृदय में (त्वयि) आपमें अथवा आपके विषय में (अहं सः एव) जो आप हैं वही मैं हू (इति) ऐसी जो (निर्विकल्पा) विकल्प रहित (मतिः) बुद्धि (उत्पद्यते) उत्पन्न होती है यद्यपि (इयम् मिथ्या एव) यह बुद्धि असत्य ही है (तदपि) तो भी (अभ्रेषरूपांतृप्ति) निश्चल अविनाशी सन्तोष सुख को (तनुते) विस्तृत करती है। सच है (त्वत्प्रसादात्) आपके प्रसाद से (दोषात्मानः अपि) सदोषी पुरुष भी (अभिमतफलाः भवन्ति) अभिमत फल को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जिनका आत्मा सदोषी है पापकर्मरूप कालिमा से लिप्त है ऐसे मानव भी आपके प्रसाद से अभिमत फल प्राप्त करते ही हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके पवित्र ज्ञानादि अनंत गुणों का ध्यान एवं चिंतन करते-करते जो परमात्मा है सो मैं हूं और जो मैं हूं, सो परमात्मा है जब ऐसी निर्विकल्पात्मक अभेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है सो यद्यपि यह मिथ्या है तो भी निश्चल आनन्द को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकट करती हैं। बहुत कहने से क्या सदोषी पतितात्मा पुरुष आपके सामीप्य एवं प्रसाद से अभिमतफल को प्राप्त करते हैं ॥१७॥

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभंगीतरङ्गै-
वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते ।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृता सेवया तृप्नुवन्ति ॥१८॥

वचन जलधि तुम देव सकल त्रिभुवन में व्यापै ।
भंग तरंगिनि विकथ वाद मल मलिन उथापै ॥
मन सुमेरु सों मथे ताहि जे सम्यग्ज्ञानी ।
परमामृत सों तृषित होंहि ते चिरलों प्रानी ॥१८॥

टीका—हे देव ! यः ते तव वागम्भोधिः भवद्दिव्यध्वनिसागर: अखिलं भुवनं पर्येति-व्याप्नोति । वाक् एव अम्भोधिः वागम्भोधिः कीदृशः वागम्भोधिः ? सप्तभंगीतरङ्गैः कृत्वा मिथ्यावादं मलं अपनुदन् स्फोटयन् । सप्तभंग्या एव तरंगाः सप्तभंगीतरङ्गाः तैः सप्तभंगीतरङ्गैः । विबुधा विबुधजनाः सपदि शीघ्रं चेतसा एव अचलेन मनः एव पर्वतेन कृत्वा तस्य वागम्भोधेः आवृत्तिं मंथनं व्यातन्वन्तः सन्तः सुचिरं चिरकालं अमृतसेवया तृप्नुवन्ति । अमृतं पीयूषं पक्षे मोक्षस्तत् आसेवया ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे स्वामिन् ! (सप्तभंगीतरंगैः) स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सप्तभंगरू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लहरों के द्वारा (मिथ्यावादं-मलं) सर्वथा एकान्त कदाग्रहरूप-मिथ्यात्वमलको अथवा शरीरादि परवस्तु में आत्मत्वबुद्धि रूप विपरीताभिनिवेश के सम्बन्ध से होने वाले अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यामलको (अपनुदन्) दूर करने वाला (ते) आपका (यः) जो (वाग्म्भोधिः) वचनरूपी समुद्र है सो (अखिलं भुवनं) समस्त संसार को (पर्येति) घेरे हुए है—समस्त संसार में व्याप्त है ❀

भावार्थ—हे नाथ ! सप्तभंगरूपतरंगों से अथवा अनेकान्त के माहात्म्य से-शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि रूपी जीव के विपरीताभिनिवेश को दूरकरने वाले आपके वचन समुद्र का जो भव्य प्राणी निरंतर अभ्यास मनन एवं परिशीलन करता

❀ इस श्लोक में "आवृत्तिम्; विबुधाः अचलेन और अमृतसेवया" ये पद श्लिष्ट और द्वयर्थक हैं-दो अर्थ वाले हैं—इसलिये इस श्लोक के नीचे के दो चरणों का अन्वयार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—(चेतसा एव अचलेन) मनरूपी पर्वत मन्दर गिरिके द्वारा (तस्य) उस वचन रूपी समुद्र का (आवृत्तिम्) मन्थन (व्यातन्वन्तः) करनेवाले (विबुधाः) देवगण (सपदि) शीघ्र ही (अमृतसेवया) अमृत के सेवन से (सुचिरं) चिरकाल तक (तृप्नुवन्ति) संतुष्ट हो जाते हैं। भावार्थ—कवि सम्प्रदाय में ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार देवों ने मिल कर मेरु पर्वत के द्वारा समुद्र को मंथन किया था जिससे उसमें अन्य वस्तुओंके साथ अमृत भी निकाला गया था, देवगण उसी अमृत को पीकर अमर हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है अर्थात् आगमोक्त विधि से अभ्यास कर चित की निश्चल रूप परम समाधि को प्राप्त करता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है और अनन्त काल तक वहां सुख में मग्न रहता है। य सब आप के वचन समुद्रका ही माहात्म्य है ॥१८॥

आहार्य्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वांगेषु त्वमसि शुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किंच शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥१९॥

जो कुदेव छवि हीन वसन भूषण अभिलाखैं।
बैरी सों भयभीत होय सो आयुध राखैं॥
तुम सुन्दर सर्वंग शत्रु समरथ नहिं कोई।
भूषण वसन गदादि ग्रहण काहे को होई॥१९॥

टीका—भो देव ! यः कश्चित् परोदेवः स्वभावात् निसर्गेण अहृद्यः अमनोज्ञः कुरूपः स आहार्य्येभ्यः श्रृंगारेभ्यः स्पृहयति वांछति नान्यः। पुनः भो देव ! यः कश्चित् वैरिणां शक्यो भवति स पुमान् सततं निरंतरं शस्त्रग्राही भवति। शस्त्राणि गृह्णातीति शस्त्रग्राही। नान्यः। हे देव! त्वं सर्वांगेण शुभगः असि। सर्वशरीरेण सुन्दरोऽसि। पुनः त्वं वैरिणां शक्योपि न। परेषां बाह्यांतर वैरिणां कदापि जेतुं न शक्यः। तत्र तस्मात् कारणात् स्वभावसौन्दर्यालंकृतस्य तव भूषा वसन कुसुमैः किं प्रयोजनं? श्रृंगार पट्टकूलमाल्यादिभिः किंनिमित्तं ? भूषाश्च वसनानि च कुसुमानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च तैः भूषावसनकुसुमैः । च पुनः निर्वैरिणस्तव उदस्त्रैः शस्त्रैः किं प्रयोजनं ? अपि तु न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यः) जो (स्वभावात्) स्वभाव से (अहृद्यः) (स्यात्) अमनोज्ञ-कुरूप होता है (स एव) वह ही (आहार्य्येभ्यः) वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की (स्पृहयति) इच्छा करता है। (च) और (यः) जो (वैरिणा) शत्रु के द्वारा (शक्यः) जीतने योग्य होता है वही (शस्त्रग्राही भवति) शस्त्रों को ग्रहण करने वाला होता है—उसे ही त्रिशूल-गदा-भाला-बरछी-तलवार आदि अस्त्रों की आवश्यकता होती है–किन्तु हे भगवन् ! (त्वम्) आप (सर्वाङ्गेषु सुभगः असिः) सर्वांग रूप से सुन्दर हो, और (त्वं परेषां न शक्यः) तुम्हें शत्रु भी नहीं जीत सकते (तत्) इस कारण (तव) आपको (भूषावसन कुसुमैः) आभूषण वस्त्र और फूलों से—विविध आभूषणों, सुन्दर वस्त्रों और मनोज्ञ सुगन्धित पुष्पों से (च) और (उदस्त्रैः अस्त्रैः) पैने-तीक्ष्ण धार वाले नुकीले हथियारों से (किं) क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ–आचार्य वादिराज ने इस श्लोक में सच्चे देवका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हुए जिनेन्द्र देव को अन्य हरिहरादिक देवों से सर्वोत्कृष्टता प्रकट की है, उन्हें ही निर्दोष और वास्तविक देव बताया है, क्योंकि संसार में बहुत से जीव अपनी अज्ञता वश देवत्व विहीन पुरुषों में भी देवकी कल्पना कर लेते हैं। जिनका चित्त राग-द्वेष से मलिन है दूषित है-जो स्वभाव से ही कांति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हीन एवं अमनोज्ञ हैं। और अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित हैं–अथवा बहुमूल्य वस्त्राभूषण और स्त्री गदा आदि अस्त्रों (हथियारों) से जिनकी पहिचान होती है। जो नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत करने की इच्छा करते हैं। जिन्हें शत्रुओं से सदा भय बना रहता है अतएव गदा त्रिशूल आदि अस्त्रों को धारण किए हुए हैं, जैन धर्म ऐसे भेषी रागी द्वेषी पुरुषों को देव नहीं कहता, और न उन में देवत्व का वास्तविक लक्षण ही घटित होता है। परन्तु जिनेन्द्र भगवान स्वभाव से ही मनोज्ञ हैं–कान्तिवान् हैं। अतः वे कृत्रिम वस्त्रा-भूषणों से शरीर को अलंकृत नहीं करते हैं-उन्होंने देह भोगों को खुशी खुशी त्याग किया है और मोह शत्रु पर विजय प्राप्त की है। इसके सिवाय, उन्हें किसी शत्रु आदि का कोई भय नहीं है और न संसार में उनका कोई शत्रु मित्र हो है, वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं, चाहे पूजक और निंदक कोई भी क्यों न हो किसी से भी उनका राग द्वेष नहीं है। उनके आत्मतेज और तपश्चरण विशेष की सामर्थ्य से कट्टर बैरी भी अपने बैर विरोध को छोड़ कर शांत हो जाते हैं। अतः ऐसे पूर्ण अहिंसक परम वीतराग, और क्षीणमोही परमात्मा को सुन्दर वस्त्रा-भूषणों और अस्त्र शस्त्रों से क्या प्रयोजन हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यता-मातनोति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वंलोकानां प्रभुरिति तवश्लाघ्यतेस्तोत्रमित्थम् ।।२०।।

सुरपति सेवा करै कहा प्रभु प्रभुता तेरी ।
सो सलाधनाल है मिटै जगसौं जग फेरी ।।
तुम भवजलधि जिहाज तोहि शिवकंत उचरिये ।
तुही जगत जन पाल नाथ थुति की थुति करिये ।।२०।।

टीका—भो देव ! इन्द्रः तव भगवतः सेवां सुकुरुतां तया सेवया ते तव किं श्लाघनं प्रशंसनं अपितु न । तस्येन्द्रस्य इय मेव सेवा श्लाघ्यतां प्रशंसतां आतनोति—विस्तारयति । कथंभूतेयं [सेवा] ? भवलयकरी भवः संसारस्तस्यलयो नाशस्तं करोति । भो देव ! इतिकारणात् तव स्तोत्रम् इत्थं श्लाघ्यते । इतीति किं यतः कारणात् त्वं जननजलधेः संसारसमुद्रात् निस्तारीं वर्तसे च पुनः त्वं सिद्धिकान्तापतिः, त्वं लोकानां प्रभुः, जननसेव-जलधिः तस्मात्, सिद्धिकांतायाः पतिः सिद्धिकांतापतिः ।।२०।।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (इन्द्रः) इन्द्र देवराज (तव) तुम्हारी-आपकी (सेवाम्) पूजा-स्तुति बंदना आदि सेवा को (सुकुरुताम्) अच्छी तरह से करे, परन्तु (तया) उसके द्वारा (ते) आपकी (किंश्लाघनं) क्या प्रशंसा है ? किन्तु (भवलयकरी) संसार परिभ्रमण का नाश करने वाली (इयम्) यह सेवा तो (तस्य एव) उस इन्द्रकी ही (श्लाघ्यताम्) प्रशंसाको (आतनोति) विस्तृत करती है—बढ़ाती है । किन्तु (त्वं) आप (जनन जलधेः) संसार समुद्रसे (निस्तारी) तरने और तारने वाले हैं, तथा (त्वं)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप (सिद्धिकान्ता पतिः) मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी हैं (त्वं) आप (लोकानां प्रभुः) संसार के समस्त प्राणियों के अधिपति हैं (इत्थम्) इस तरह से (तव) आप का यह (स्तोत्र) स्तोत्र-स्तवन (श्लाघ्यते) प्रशंसित किया जा सकता है।

भावार्थ—हे नाथ ! इन्द्र आपकी सेवा, बंदना, पूजा, स्तुति आदि करता है, केवल इसीसे आपकी कोई महत्ता और प्रशंसा नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्र तो आपकी समीचीन भक्ति एवं स्तुति, पूजादि से महान् पुण्य का संचय करता है, और वह भक्ति उसके लिये भवलय करी संसार का नाश करने वाली होती है, इसी से वह एक भवावतारी हो जाता है अर्थात् मनुष्य का एक भव धारण कर के ही मोक्ष चला जाता है। परन्तु आप संसार समुद्र से स्वयं तरने और तारने वाले हैं और मुक्ति रूप लक्ष्मी के अधिपति हैं तथा संसार के समस्त जीवों के अकारण बन्धु हैं उन्हें संसार के दुःखोंसे छुटाने वाले हैं और हेयोपादेय रूप तत्वों का परिज्ञान कराते हैं इसलिये आप उनके प्रभु हैं, आपने जिस उच्च आदर्श को प्राप्त किया है वही संसारी जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है, इन्हीं सब कारणों से आपकी महत्ता एवं प्रभुता संसार में प्रकट होती है ॥२०॥

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येनतुल्य-
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततः त्वय्यमी नः क्रमन्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैवं भूवंस्तदपि भगवन् भक्तिपीयूषपुष्टा-
स्तेभव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति ॥२१॥

वचन जाल जड़रूप आप चिन्मूरति झांई।
तातें थुति आलाप नाहि पहुंचे तुम तांई॥
तो भी निष्फल नाँहि भक्तिरस भीनें वायक।
संतन को सुरतरु समान वांछित वर दायक ॥२१॥

टीका—भो भगवन्! वाचांवृत्तिर्वाग्विलासः अपर सदृशी (अपरेण-सदृशी अपरसदृशी) त्वम् अनुपमानः। त्वं देवः अन्येन न तुल्योऽसि, अनुपमोऽसि। ततस्तस्मात्कारणात् नोऽस्माकं अमीस्तुत्युद्गाराः त्वयि विषये कथमिव क्रमन्ते। अस्माकं स्तुतिविलासा कथमिव तुभ्यं रोचंते। एवं यद्यपि वर्तंते, तदपि एवं मा अभूवन्। ते भक्तिपीयूषपुष्टाः स्तुत्युद्गाराः भव्यानां अभिमतफलाः पारिजाताः मनोऽभीष्टफलाः कल्पवृक्षाः भवन्ति। भक्तिरेव पीयूषं भक्ति पीयूषं तेन पुष्टाः अभिमतं फलं येषां ते ॥२१॥

अन्वयार्थ—(भगवन्!) हे स्वामिन्! (वाचांवृत्तिः) हमारे वचनों की प्रवृत्ति (अपरसदृशी) दूसरे अल्पज्ञ मनुष्यों के समान है—जैसे अन्य अल्पज्ञमनुष्यों की वाणी होती है वैसी ही हमारी भी है, परन्तु (त्वं) आप (अन्येन न तुल्यः) दूसरे पुरुषों के समान नहीं हो, इसीलिये आप को तुलना अन्य संसारी अल्पज्ञ प्राणियों के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि आप अनुपम हैं। (ततः) इसलिये (नः) हमारे अभी (स्तुत्युद्गाराः) ये स्तुति रूपी उद्गार (त्वयि) आप तक (कथमिव) किस तरह (क्रमन्ते) पहुँच सकते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं-प्राप्त हो सकते हैं—अथवा (एवं मा अभूवन्) ऐसे मत हो-अर्थात् हमारे वचन आप तक न भी पहुँचे (तदपि) तो (भक्तिपीयूषपुष्टाः) भक्तिरूपी अमृतसे परिपुष्ट हुए (ते) स्तुतिरूप उद्गार (भव्यानाम्) भव्यजीवोंके लिये (अभिमतफला) इच्छितफलके देनेवाले (पारिजाताः) कल्पवृक्ष (भवन्ति) होते हैं

भावार्थ—हे नाथ ! हमारे वचनों की प्रवृत्ति अन्य अल्प जीवों के समान ही है। परन्तु आप राग-द्वेषादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं अतः आपकी तुलना अन्य अल्पज्ञ संसारी जीवों से नहीं की जा सकती है, क्योंकि आप सच्चिदानन्द परमब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि हमारे स्तुति रूपी उद्गार आपके समीप तक नहीं पहुँचते हैं, तो भी आपकी समीचीन भक्तिरूप अमृत से पुष्ट हुए ये स्तुतिरूप उद्गार भव्य जीवों के लिये कल्प वृक्ष के समान इच्छित फलके देने वाले होतें हैं ॥२१॥

कोपावेशो न तव क्वापि देव प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम् ।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैरहारी,
क्वैवंभूतं भुवनतिलकं प्राभवं त्वत्परेषु ॥२२॥

कोप कभी नहीं करो प्रीति कबहूं नहिं धारो।
अति उदास वेचाह चित्त जिनराज तिहारो ॥
तदपि जान जग वहै वैर तुम निकट न लहिये।
यह प्रभुता जगतिलक कहां तुम बिन सरदहिये ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—हे देव ! तव परमेश्वरस्य क्वापि कोपावेशो न, क्रोधप्रवेशो न वर्तते । कोपस्य आवेशः कोपावेशः । भो देव ! क्वापि प्रसादो न, प्रसन्नतापि न । हि निश्चितं तव चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं । परमा चासौ उपेक्षाबुद्धिश्च परमोपेक्षा तया परमोपेक्षया इत्थम्भूतं चेतः ? न विद्यते अपेक्षा वांछा यस्य तत् । एवं यद्यप्यस्ति तदपि भुवनं आज्ञावश्यं विद्यते । आज्ञयैव वश्यं आज्ञावश्यं । यद्यपि तव क्वापि प्रसादो न, तदपि तव सन्निधिर्वैरहारी वर्तते । भो भुवनतिलक ! एवम्भूतं प्राभवं त्वत्परेषु हरिहरादिषु देवेषु प्राभवं प्रभुत्वं क्वास्ति ? न क्वाप्यस्तीत्यर्थः । भुवनस्य तिलकः भुवनतिलकस्तस्यामन्त्रणे हे भुवन तिलक ! त्वत्तः परे त्वत्परे तेषु त्वत्परेषु ॥२२॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे नाथ ! (तव) आपका (क्वापि) किसी पर भी (कोपावेशः) क्रोध भाव (न) (अस्ति) नहीं है और (न तव) न आपकी (क्वापि) किसी पर प्रसन्नता है (हि) निश्चय से (अनपेक्षम्) स्वार्थ रहित (तव) आपका (चेतः) मन (परमोपेक्षया एव) अत्यन्त उदासीनता से (व्याप्तम्) व्याप्त है (तदपि) फिर भी (भुवनं) संसार (आज्ञावश्यं) आपकी आज्ञा के अधीन है, और आपकी (सन्निधिः) समीपता निकटता (वैरहारी) परस्पर के वैर-विरोध को हरने वाली है । और इस तरह (भुवनतिलक !) तीनों लोकोमें श्रेष्ठ हें देव ! (एवम्भूतं) ऐसा (प्राभवं) प्रभाव (त्वत्) आपसे (परेषु) भिन्न-दूसरे हरि-हरादिक देवों में (क्वभवेत् ?) कहां हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे नाथ ! आपको न किसी से राग है और द्वेष, आप न किसी पर प्रसन्न ही होते हैं और न किसी को क्रोधका भाजन ही बनाते हैं, क्योंकि आप परम वीतरागी राग-द्वेषादि के अभावरूप परम उपेक्षाभाव को अंगीकार किए हुए हैं ! परन्तु फिरभी, आपकी आज्ञा त्रैलोक्यवर्ती जीवों के द्वारा मान्य है तथा आपकी समीपता वैर-विरोध का नाश करने वाली है। साथ ही, आपकी प्रशांत मुद्रा मुमुक्षु जीवों के लिये साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करती है, उसके ध्यान एवं चिंतनसे भव्यात्मा आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान करते हैं। और उस तरह चैतन्य जिनप्रतिमा बनने का अभ्यास करते हैं, अतएव जैसा प्रभाव आपका है वैसा अन्य हरिहरादिक देवों का कहां हो सकता है ? क्योंकि वे रागी द्वेषी हैं-अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करते हैं और निंदकों पर रुष्ट होतें हैं-उन्हें दण्ड दे देते हैं। परन्तु हे देव ! ये सब बातें आप में नहीं हैं, पूजक और निन्दकों पर आपका समानभाव रहता है क्योंकि आप जिन हैं, इन सब विकारों को जीत चुके हैं। अतः आप जैसा प्रभाव अन्य किसी भी देवी देवता का नहीं हो सकता है ॥२२॥

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामंडलीगीतकीर्तिं,
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिजनो यः।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पंथा-
स्तत्त्वग्रंथस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः ॥२३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुरतिय गावैं सुयश सर्वगति ज्ञानस्वरूपी ।
जो तुमको थिर होंहि नमैं भवि आनन्द रूपी ॥
ताहि क्षेमपुर चलन वाट बाकी नहिं हो है ।
श्रुत के सुमरनमाँहि सो न कबहूं नर मोहै ॥२३॥

टीका—भो देव ! जो जनः त्वां परमेश्वरं स्तोतुं तोतूर्ति त्वरितो भवति कथम्भूतं त्वां ? त्रिदिव गणिकामंडलीगीतकीर्तिः त्रिदिवस्य स्वर्गस्यगणिका अप्सरसोऽनीकिन्यो वा तासां मंडली तया गीता कीर्तिर्यस्य स तं पुनः कथम्भूतं ? यः सकल विषयज्ञानमूर्तिः सकलविषयं लोकाऽलोकाकाशविषयं यत् ज्ञानं तस्य मूर्तिः । तस्य पुरुषस्य जातु कदाचित् पंथाः मोक्षमार्गः न जोहूर्ति न कुटिलो भवति । कथम्भूतस्य तस्य ? क्षेमपदं मोक्षस्थानं अटतः व्रजतः । एषः मर्त्यः तत्त्वग्रंथस्मरणविषये न मोमूर्ति न संदेहं प्राप्नोति । तत्त्वग्रंथस्य स्मरणं तस्य विषयस्तस्मिन् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव ! (यः जनः) जो मनुष्य (त्रिदिवगणिकामण्डलीगीत कीर्तिम्) देवाङ्गनाओं के समूह द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी ऐसे तथा (सकलविषयज्ञानमूर्तिम्) समस्त पदार्थों के विषय करने वाले ज्ञानस्वरूप (त्वां) आपकी (स्तोतुम्) स्तवन करने के लिये (तोतूर्तिः) शीघ्रता करता है (क्षेमम् पदम्) कल्याणकारी स्थान अर्थात् मोक्षको (अटतः) जाते हुए (तस्य) उस मनुष्य का (पन्थाः) मार्ग (जातु) कभी भी (न जोहूर्ति) टेढ़ा नहीं होता और (न एषः मर्त्यः) न यह मनुष्य (तत्त्वग्रन्थ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मरणविषये) तत्त्वग्रन्थों के स्मरण के विषय में (मोमूर्छति) मूर्छित होता है–मोहको प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो भद्रमानव आपकी समीचीन भक्ति करता है और आपके पवित्र अनन्तज्ञानादि गुणों की स्तुति करता है उनका चिन्तवन और मनन करता है–वह शीघ्र ही कर्मबन्धन को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और कर्मबन्ध के विनाश से पूर्णज्ञानी होता हुआ फिर कभी भी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता है ॥२३॥

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव त्वां यः समयनियमादादरेणस्तवीति।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानांभवतिविषयः पञ्चधा पञ्चितानाम् ॥२४॥

अतुलचतुष्टय रूप तुम्हें जो चितमें धारै।
आदरसों तिहंकालमांहि जग थुति विस्तारै॥
सो सुकृती शिव पंथ भक्ति रचना कर पूरै।
पंच कल्यानक ऋद्धि पाय निहचै दुख चूरै ॥२४॥

टीका—भो देव! यः पुमान् त्वां भगवंतं चित्ते कुर्वन् समयनियमात्-कालनियमात् आदरेणस्तवीति श्रोष्टवीति। समयस्यनियमस्तस्मात्। कथम्भूतं त्वां? निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं सुखं च ज्ञानं च दृग् च वीर्यं च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि। निरवधीनि मर्यादारहितानि च सुखज्ञानदृग्वीर्याणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च तैःरूप्यते लक्ष्यते इति निरतं खलु निश्चितं सुकृति पुमान् तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पंचधा पंचितानां कल्याणानां विषयो स्थानं भवति। पंचधा पंचिताः विस्तृताः तेषां पंचधा पंचितानाम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(देव !) हे जिनेन्द्र ! (निरवधिसुखज्ञान-दृग्वीर्यरूपम्) अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त-वीर्यस्वरूप (त्वाम्) आपको (चित्ते कुर्वन्) हृदय में धारण करता हुआ (यः) जो मनुष्य (समयनियमात्) समय के नियम से अर्थात् त्रिकाल में (आदरेण) विनयपूर्वक (स्तवीति) आपकी स्तुति करता है। (खलु) निश्चय से (सः) वह मनुष्य (तावता) उतने ही से-स्तवन करने मात्र से ही—(श्रेयो मार्गं) मोक्ष मार्ग को (पूरयित्वा) पूर्ण कर के (पंचधा पंचितानाम्) पंच प्रकार से विस्तृत (कल्याणानाम्) कल्याणों का—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण रूप पंच कल्याणकों का—(विषयः भवति) पात्र होता है।

भावार्थ—अनन्तचतुष्टयस्वरूप हे नाथ! जो भव्य पुरुष आपका आदर पूर्वक भक्तिसे स्तवन करता है वह पुण्यात्मा पंच कल्याणकोंका पात्र होता हुआ मोक्ष मार्गका नेता होता है ॥२४॥

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद त्वत्कीर्त्तने न क्षमाः-
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम्।
अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणांसखलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहो जगत पति पूज्य अवधिज्ञानी मुनि हारे।
तुम गुण कीर्तनमाँहि कौन हम मन्द विचारे॥
थुति छलसों तुम विषै देव आदर विस्तारे।
शिव सुख पूरनहार कल्पतरु यही हमारे॥२५॥

टीका—भक्त्या प्रह्वो नम्रीभूतो यो महेन्द्र तेन पूजितपदे महेन्द्रे पूजिते पदे चरणकमले यस्य स तस्यामंत्रणे हे भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद! त्वत्कीर्त्तनेतत्र स्तवने संयमभृतो गणधरादयो ऽपि क्षमा न समर्था न। कं भूताः संयमभृतः ? सूक्ष्मज्ञान दृशः सूक्ष्मज्ञानमेव दृक् येषां ते। वयं मन्द विधाः मंदमेधसः के ? तु पुनः तस्माभिः स्तवनच्छलेन स्तोत्रमिषेण त्वयि विषये आदरः तन्यते विस्तार्यंते, स्तवनस्य छलं स्तवनच्छलं तेन कीदृशः आदरः परः उत्कृष्टः खलु निश्चितं सकल्याणकल्पद्रुमः अस्माकं अस्तु। कीदृशानामस्माकं ? स्वात्माधीनसुखैषिणां, स्वस्य आत्मा स्वात्मा अथवा सुष्ठु च आत्मा च स्वात्मा तदधीनं यत्सुखं तदिच्छतीति तेषां, कल्याणानां कल्पद्रुमः कल्याणकल्पद्रुमः॥२५॥

अन्वयार्थ—(भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद!) भक्ति से नम्र हुए देवेन्द्र के द्वारा पूजित हैं चरण जिनके ऐसे हे जिनेन्द्र! जब कि (त्वत्कीर्तने) आपकी प्रशंसा करने में (सूक्ष्मज्ञानदृशः) सूक्ष्मज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले (संयमभृतः अपि) तपस्वी भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानादि के धारक संयमी योगीश्वर भी-(न क्षमाः) समर्थ नहीं हैं तब (हन्त) खेद है कि (वयंमन्दाः के) हम जैसे मन्दबुद्धि पुरुष आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो सकते हैं ? तथापि (स्तवनच्छलेन) स्तवन के छल से-(अस्माभिः) हमारे द्वारा (तु) तो सिर्फ (त्वयि) आपके विषय में (परः) उत्कृष्ट (आदरः) आदर-प्रेम ही (तन्यते) विस्तृत किया जाता है। और (खलु) निश्चय से (सः) वह आदर ही (स्वात्माधीनसुखैषिणां) आत्मसुख के इच्छुक (नः) हमलोगों के लिये (कल्याणकल्पद्रुमः) कल्याण करने वाला कल्पवृक्ष होवे।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जैसे परमयोगीन्द्र की, जब द्वादशांग का पाठी इन्द्र भक्तिपूर्वक स्तुति करता है और चारज्ञान के धारक गणधरादिक भी आपको अपनी स्तुति का विषय बनाते हैं, तथा अनेक ऋद्धियों के धारक क्षीणकाय मुनिपुंगव भी जब आपके गुणों की स्तुति करते हैं। तो भी वह पूर्णतया आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो पाते ऐसी अवस्था में आचार्य वादिराज अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तब मुझ जैसा मन्दमति पुरुष आप जैसे जगद्वन्द्य परमात्मा की स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अस्तु आपके गुणों में जो अनुराग प्रकट किया है—भक्ति से इस स्तवनरूप पुष्पमाला को गूंथा है—सो उक्त गुणानुराग ही आत्महितैषी मोक्ष के इच्छुक हम जैसे पुरुषों का कल्याण करने वाला हो, अथवा मेरी आत्मोन्नति में सहायक हो ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि धनञ्जयप्रणीतम्–

विषापहारस्तोत्रम् ।

(उपजाति छन्द)

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः ।
प्रवृद्धकालोप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः ॥१॥

अपने में ही स्थिर रहता है, और सर्वगत कहलाता ।
सर्व-संग-त्यागी होकर भी, सब व्यापारों का ज्ञाता ॥
काल-मान से वृद्ध बहुत है, फिर भी अजर अमर स्वयमेव ।
विपदाओं से सदा बचावे, वह पुराण पुरुषोत्तम देव ॥१॥

टीका—पुराणः पुरुषः श्रीमदादिब्रह्मा । अपायात् कष्टात् । अव्यात् । पुरि शेतेऽसौ पुरुषः । कीदृशः पुरुषः ? स्वात्मस्थितोऽपि सर्वगतः । यः स्वात्मस्थितः स सर्वगतः कथमिति शब्दतो विरोधं प्रदर्श्य अर्थतो विरोधमपहरति । स्वात्मनि अनन्तानन्तज्ञानादि-लक्षणे स्वरूपे स्थितः । सर्वप्रतिगतः ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्वात् अस्य सर्वगतत्वं न विरुध्यते । पुनर्विनिवृत्तसंगोऽपि समस्तव्यापार-वेदी । यो विनिवृत्तसंगः स समस्तव्यापारवेदीति कथमिति शब्दतो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधमपाकरोति । विशेषरण निवृत्तः परित्यक्तः संगो बहिरन्तरुपलेपो येन सः । समस्ताः सर्वे ये व्यापारा जीवपुद्गलादिद्रव्यव्याप्रियमाणाऽनन्तगुणपर्यायलक्षणार्थक्रियादयस्तेषां वेत्ता । अथवा सम्यक्प्रकारेणास्ता निराकृता ये व्यापाराः असिमषिकृषिवाणिज्यलक्षणास्तान् वेत्तीति । पुनः प्रवृद्धकालोऽप्यजरः । इति शब्दतो विरोधमुपदर्श्यार्थतो विरोधं परिहरति । प्रकर्षेण वृद्धः । एधितः कालः समयो यस्य सः । अनाद्यनन्तत्वात् न विद्यते जरा यस्य सोऽजरः । जरेत्युपलक्षणं । जराजन्ममृत्युध्वंसीत्यर्थः । पुनर्वरेण्यः । वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः । वो युष्मान् पायादिति कर्मपदमध्याहार्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूपमें स्थित होकर भी सर्वव्यापक, (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारों के जानकार होकर भी (विनिवृत्तसंग) परिग्रह से रहित, (प्रवृद्धकालः अपि अजरः) दीर्घ आयुवाले होकर भी बुढ़ापे से रहित तथा (वरेण्यः) श्रेष्ठ (पुराणः पुरुषः) प्राचीन पुरुष भगवान वृषभनाथ (नः) हम सबको (अपायात्) विनाश से (पायात्) बचावें-रक्षित करें ।

भावार्थ—श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है । इस अलंकार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है । देखिये-जो अपने स्वरूप में स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे होगा ? यह विरोध है; पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं, पर उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत हैं। जो सम्पूर्ण व्यापारों का जानने वाला है वह परिग्रह रहित कैसे हो सकता है? यह विरोध है। उसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुये भी कर्मों के संबन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं, यह विरोध है। उसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह श्लोक में विघ्न-बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिये पुराण पुरुषसे प्रार्थना की गई है ॥१॥

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न
भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः ॥२॥

जिसने पर-कल्पनातीत, युग-भार अकेले ही झेला।
जिसके सुगुन-गान मुनिजन भी, कर नहिं सके एक वेला॥
उसी वृषभ की विशद विरद यह, अल्पबुद्धि जन रचता है।
जहां न जाता भानु, वहाँ भी दीप उजेला करता है॥२॥

टीका—अद्य मे समासौ वृषभः श्रीमदादिब्रह्मा स्तुत्यस्स्तव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीयः । कृत्यानि कर्त्तरि षष्ठी चेति मे इत्यत्र षष्ठी । असौ कः य: श्रीमदादिब्रह्मा योगिभिरपि ब्रह्मर्द्धिसम्पन्नै रपि स्तोतुमशक्यः कीदृशोऽसौ ? एकोऽसहायः सन् परैरन्यपुरुषैरचिन्त्यं मनसाऽ स्मरणीयं । कृतयुगारम्भे कल्पवृक्षाद्यभावेन जीवनोपायाभि जिजीविषया संक्लिश्यमान प्राणिप्राणधारणोपायप्रदर्शनस्व युगभारं वहन् धरन् । भानोः सूर्यस्याप्रवेशेऽप्रचारे प्रदीपः कि प्रविशति ? अपि तु प्रविशतीत्यर्थः ॥२॥

अन्वयार्थ—(परैः) दूसरों के द्वारा (अचित्यम्) चिंतन करनेके अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुग के भारको (एकः) अकेले (वहन्) धारण किये हुये तथा (योगिभिः अपि) मुनियों के द्वा भी (स्तोतुम् अशक्यः) जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है (असौ वृषभः) वे भगवान् वृषभनाथ (अद्य) आज (मे स्तुत्यः) मे द्वारा स्तुति करने योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर र हूँ। सो ठीक है (भानोः) सूर्य का (अप्रवेशे) प्रवेश नहीं होने प (किम्) क्या (प्रदीपः) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता अर्थात् करता है।

भावार्थ—भगवन् ! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था उस समय की सब व्यवस्था आ अकेले ही कर गये थे। इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को दे कर योगी भी कह उठे थे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता पर मैं आज आपकी स्तुति कर रहा हूँ, इसका कारण मे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक सूर्य की भांति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूंगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है उससे बाज क्यों आऊँ ? ॥२॥

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं,
नाहं त्यजामि स्तवनानुबंधम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं,
वातायनेनेव निरूपयामि ॥३॥

शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का ।
किन्तु मैं न साहस छोड़ूंगा, विरदावली बनाने का ॥
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रकटाऊँगा ।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा ॥३॥

टीका—शक्रो देवेन्द्रः। स्तवनानुबन्धं स्तवनसम्बन्धिनं। शकनाभिमानं त्वां स्तोतुमहं शक्त इत्यभिमानं। तत्याज अजहात्। अहं स्तवनानुबन्धं स्तवनसम्बन्धं। शकनाभिमानं। न त्यजामि न जहामि। स्तवनस्य अनुबन्धो यस्मिन् स तं। स्वल्पेन बोधेन। ततः इन्द्रात् स्वल्पज्ञानेनाधिकार्थं प्रभूतार्थं। अहं निरूपयामि वंभणीमि। केनेव ? वातायनेनेव। यथा वातायनेन गवाक्षेण अधिकार्थं स्थूलतरं गजाद्यर्थं कश्चित् निरूपयति ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(शक्रः) इन्द्र ने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान (तत्याज) छोड़ दिया था। किन्तु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुति के उद्योग को (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं (वातायनेन इव) झरोखे की तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़े से ज्ञान के द्वारा (ततः) झरोखे की ज्ञानसे (अधिकार्थम्) अधिक अर्थ को (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूं।

भावार्थ—जिस तरह छोटे से झरोखे में झांक कर उसमें कई गुणी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, उसी तरह मैं भी अपने अल्प ज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूं। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं। इसलिये मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता।

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो,
विद्वानशेषं निखलैरवेद्यः ।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः,
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ॥४॥

तुम सब-दर्शी देव, किन्तु, तुमको न देख सकता कोई।
तुम सबके ही ज्ञाता, पर तुमको न जान पाता कोई॥
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ कहा न जाता हे भगवान्।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारा स्तवन महान्॥४॥

टीका—भो जिन ! ततः कारणात् तव भगवतः स्तुतिस्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेतावान् ईदृश इति प्रमातुं न पार्यसे । यतस्ततः स्तवनकरणे अशक्तिकथा तवास्तु भूयात् । अशक्तिः । अशक्या कथा यस्यां सा । हे भगवन् ! त्वं विश्वदृश्वा । विश्वं पश्यतीति विश्वदृश्वा, सकलजीवादिपदार्थस्य साक्षात् द्रष्टेत्यर्थः । त्वं सकलैरदृश्यः । निरूपत्वात् । त्वमशेषं लोकालोकाकाशं विद्वान् जानन् । केवलज्ञानविराजमानत्वात् । निखिलैरवेद्यः, न वेत्तुं शक्यः । त्वं कियान् कियत्परिमाणाधिकरणः कीदृश इति वक्तुं अशक्यः, न शक्यः अशक्यः ।।४।।

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (विश्वदृश्वा 'अपि') सबको देखने वाले हैं किंतु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते, आप (अशेषम् विद्वान्) सबको जानते हैं पर (निखिलैः अवेद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते । आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं (इति) यह भी (वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा जा सकता (तत) उससे (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अशक्तिकथा) मेरी असामर्थ्य की कहानी ही (अस्तु) हो ।

भावार्थ—आप सबको देखते हैं पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है । आप सबको जानते हैं पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है । आप कैसे और कितने परिमाण वाले हैं यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है । इस तरह आपकी स्तुति मानों अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है । इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि आपकी स्तुति से इन्द्र ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमान छोड़ दिया था पर मैं नहीं छोड़ूंगा अर्थात् मुझ स्तुति करने की शक्ति है पर जब वे स्तुति करना प्रारंभ करे और प्रारंभ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सबमें आपको दे की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है जिसका ता अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्रने जो शक्ति अभिमान छोड़ा था वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो।

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै-
रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः,
सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः ॥५॥

बालक सम अपने दोषों से, जो जन पीड़ित रहते हैं।
उन सबको हे नाथ, आप, भवताप रहित नित करते हैं॥
यों अपने हित और अहित का, जो न ध्यान धरनेवाले।
उन सबको तुम बाल-वैद्य हो, स्वास्थ्य-दान करनेवाले॥५॥

टीका—हे ब्रह्मन्! त्वं सर्वस्य जन्तोः सकल भव्यप्रा गणस्य। बालवैद्योऽसि बालचिकित्सकोऽसि। संसारव भव्यजीवानां त्वमेव परोपकारी नान्य इति तात्पर्यार्थः। कथं स्य जन्तोः? मोक्षो मोक्षकारणं हितं। संसारः संसारका अहितं। तयोरन्वेषणे विचारणे मांद्यं। मन्दत्वं जडत्वं भजती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य कुतो वैद्योऽसि ? यतः कारणात् त्वदाश्रितं सर्वं लोकमुल्लाघतां नीरोगतामबाधतां प्रापयसीत्यर्थः । कथभूतं लोक ? आत्मदोषः पूर्वजन्मोपार्जितकर्मभिर्व्यापीडितमबाधितं । कमिव ? बालमिव । यथा कश्चन बालवैद्यो बालमुल्लाघतां नीरोगतां नयति । कीदृशं बालं ? आत्मदोषर्वातादिभिर्व्यापीडितं व्याहृतम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आपने (बालम् इव) बालक की तरह (आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधों से (व्यापीड़ितम्) अत्यन्त पोड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्यों को (उल्लाघताम्) नीरोगता (अवापिपः) प्राप्त कराई है । निश्चय से आप (हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः) भले बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए (सर्वस्य जन्तोः) सब प्राणियों के (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं ।

भावार्थ— जिस तरह बालकों की चिकित्सा करनेवाला वैद्य अपनी भूल से पैदा किये हुए वात पित्त कफ आदि दोषों से पीड़ित बालकों को अच्छे बुरे का ज्ञान कराकर उन्हें नीरोग बना देता है और अपने 'बाल वैद्य' इस नाम को सार्थक बना लेता है, उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों को हित अहित का बोध कराकर संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं । इस तरह आपका भी 'बालवैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्य,
श्व इत्यच्युत ! दर्शिताशः ।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय ॥६॥

देने लेने का काम कुछ, आज कल्य परसों करके ।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा देकर के ॥
पर हे अच्युत, जिनपति तुम यों पल भर भी नहिं खोते हो ।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो ॥६॥

टीका—भो अच्युत ! नताय नम्राय । क्षणन क्षणमात्रेण अभिमतं मनोऽभिलषितं । दत्से यच्छसि । भो त्रिलोकैकनाथ! अभिमुखायाभिमतफलं त्वदन्यः कोऽपि दातुं न प्रभवतीति भावार्थः । न च्युतः सम्यग्दर्शनादिस्वभावो यस्य स तस्यामन्त्रणं भो अच्युत ! विवस्वान् सूर्य इव त्वदन्यो अशक्तोऽसमर्थः पुमान् स दाता न हर्ता दातुमशक्यत्वात् । अद्य श्व इति दर्शिता आशा वांछा येन सः । पक्षे प्रदर्शित दिग्मण्डलो भूत्वा । एवं सव्याजं यथा स्यात्तथा । दिवसं गमयति कालयापनं करोतीत्यर्थः ॥६॥

अन्वयार्थ—(अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से सहित जिनेन्द्रदेव ! (विवस्वान्) सूर्य (न दाता 'न' हर्ता) न देता है न अपहरण करता है सिर्फ (अद्यश्वः) आजकल (इति) इस तरह (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्ष में दिशा को] दिखाता हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अशक्तः सन्) असमर्थ हो (एवम्) ऐसे ही-बिना लिये दिये हो (सव्याजम्) कपट सहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है, किन्तु आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिये (क्षणेन) क्षण-भर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं।

भावार्थ – लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़ शिर झुकाकर 'नमोनारायण' कहते हुये सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान मांगते हैं, पर वह 'आज दूंगा-कल दूंगा', इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है, किसी को कुछ लेता देता नहीं है—असमर्थ जो ठहरा। पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं। इस तरह आप सूर्य से बहुत बढ़कर हैं।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयो-
स्त्वमादर्श इवावभासि ॥७॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके रहनेवाले सुख पाते।
और विमुख जन दुख पाते हैं, रागद्वेष नहिं तुम लाते॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एकसी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों ॥७॥

टीका—भो नाथ! त्वयि परमेश्वरे। सुमुखः सम्यग्दृष्टिः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्त्या कृत्वा । स्वभावात् सहजतया । सुखानि सौधर्मेन्द्रनागेन्द्र-चक्रवर्त्यादि जनितनानासातानि । उपैति प्राप्नोतीति भावः । च पुनस्त्वयि विषये विमुखः प्राणी मिथ्यादृष्टिर्दुःखं नारकतिर्यङ्-निगोदजनिताऽसातमुपैति । तयोर्भाक्तिकाभाक्तिकयोस्त्वं भगवानेकरूपः । अवभासि शोभसे । क इव ? आदर्श इव । यथा आदर्शो मुकुरः सुमुखविमुखयोरंगिनोरेकरूपः शोभते । कीदृशस्त्वं ? सदाऽवदाता निर्मला द्युतिर्यस्य सः ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि, सुखों को (उपति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल चलने वाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है। किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार दर्पण के सामने मुंह करनेवाला पुरुष दर्पण में अपना चेहरा देखकर सुखी होता है और पीठ दे कर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से दुखी होता है; उनके सुखदुःखमें दर्पण कारण नहीं है । दर्पण तो उन दोनों के लिये हमेशा एकरूप ही है, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी दुःखी होते हैं, उसी प्रकार जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है—आपकी भक्ति करता है वह शुभ कर्मों का बंध होने अथवा अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से स्वय सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है वह अशुभ कर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है। उनके सुख दुःखमें आप कारण नहीं हैं। आप तो हमेशा दोनों के लिये रागद्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च,
तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥८॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ-थल की चौड़ाई।
वहीं वहीं तक जहाँ जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई॥
किन्तु नाथ, तेरी अगाधता, और तुंगता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगत्पिता॥८॥

टीका—भो देव ! अब्धेः समुद्रस्यागाधता गंभीरता यतो यावत्क्षेत्रं स पयोधिः समुद्रोऽस्ति तावत्येवास्ति। च पुनः। मेरो-र्मंदरस्य तुंगा प्रकृतिरुन्नतस्वभावो यत्रेति यावत्क्षेत्रं स मेरुरस्ति तावत्येवास्ति। द्यावापृथिव्योर्गगनावन्योः पृथुता विशालता तथै-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेति यत्र तिष्ठतस्तत्रैवेत्यर्थः । त्वदीया सा गंभीरा तुंगता विशालता च भुवनान्तराणि लोकालोकमशेषं व्यापत् प्राप्नोति स्म । अनेन सर्वज्ञस्य महिमा लोकोत्तरः प्रकटितः ॥८॥

अन्वयार्थ—(अब्धेः) समुद्रकी (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहां है (यतः सः पयोधिः) जहां वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वतकी (तुङ्गा प्रकृति) उन्नत प्रकृति=ऊँचाई (तत्र) वहां है (यत्र सः) जहां वह सुमेरु पर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश पृथिवीकी (पृथुता) विशालता भी (तथैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहां आकाश और पृथिवी हैं वहीं उनकी विशालता है। परंतु (त्वदीया 'अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः पृथुता च') आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालताने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ—अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य-हृदयमें रहनेवाले धैर्यकी अधिकता। 'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्वयर्थक है। पहाड़ वगैरह की ऊंचाई और मनमें दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं। जमीन आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको अपनाने का भाव, सबके प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्रकी गम्भीरता समुद्र के ही पास है मेरुपर्वत की ऊंचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथिवी का विस्तार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी उन्हीं के पास है. परंतु आपकी अगाधता=धैर्यवृत्ति, ऊंचाई= अदैन्यवृत्ति और पृथुता=उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है। इसलिये जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथिवी के सदृश है, वे भूल करते हैं।

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च ।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समंजसस्त्वम् ॥६॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मतमें गाया ।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया ॥
त्यों आशा करके अदृष्टकी, तुम सुदृष्ट फलको खोते ।
यों तव चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सबही होते ॥६॥

टीका—भो नाथ ! त्व विरुद्धवृत्तोऽपि विरुद्धाचरणोऽपि समंजस समीचीनः। लोकाचरणाद्विरुद्धं वृत्तमाचरणं यस्य सः। तव मतेऽनवस्था परमार्थतत्त्वं वर्तते। अनवस्था विरुद्धपक्षे भ्रमणं। विरोधपरिहारपक्षे सर्वथा नित्यत्वमेकत्वमित्याद्येकरूपताऽवस्था तदभावोऽनवस्था निश्चितार्थतत्त्वं। त्वया भगवता पुनरागमः पुनरावृत्तिः न गीतः न कथितः। भो देव ! च पुनः। त्वं दृष्टं दृष्टफलं। विहाय परित्यज्य। अदृष्टमदृष्टफलमैषीर्वांछसि स्म।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरुद्धपक्षे दृष्टं दृष्टफलं। विरोधपरिहारपक्षे इंद्रियसुखं। अदृष्टं अदृष्टफलं विरुद्धपक्षे। विरोधपरिहारपक्षेऽतीन्द्रियसुख। इति यावत्। विरुद्धपक्षे पुनरागमनं पुनरावृत्तिः। विरोधपरिहारपक्षे मुक्तजीवानां पुनरागमनाभावः ॥६॥

अन्वयार्थ– (अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता (तव) आपका (परमार्थतत्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोक सबधो सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक संबंधी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं; इस तरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समञ्जसः) उचितता से युक्त हैं।

भावार्थ—जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं–सभी में उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है तब सिद्धोंमें भी परिवर्तन अवश्य होगा। किन्तु आप उनके पुनरागमन को संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सामने रखी हुई वस्तुको छोड़कर अप्रत्यक्ष-परभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता, परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्यत् के सुख प्राप्त करने की इच्छा से उद्योग करते हैं, यह भी विरुद्ध बात है। पर जब इन दोनों बातों का तत्वदृष्टि से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार करते हैं तब वे दोनों ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी प्रवृत्ति उचित ही रही आती है। यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है—सिद्धों में भी होता है तथापि द्रव्य-दृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप भी हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है, इसलिये सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है। इसी तरह आपने वर्तमान के क्षणभंगुर-इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़कर सच्चे आत्म-सुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिये प्रत्यक्ष के अल्प सुखको छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो उसे कौन प्राप्त न करना चाहेगा? इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है।

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शंभुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः ॥१०॥

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिये यह उसकी धूल।
शंभु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं लूटे उन्हें इसी से काम ।
तुम निर्ग्रंथ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम ।।१०।।

टीका—भो देव ! भवतैव त्वयैव । स्मरः कामः । सुदग्धः सुखेन दग्ध इत्यर्थः । यदि नाम निश्चयेन । तस्मिन्भस्मितात्मनि भस्मरूपे शम्भुरीश्वरः उध्दूलितो लुठितत्वाल्लिप्त आत्मा यस्य सः । ईश्वरेण कामो दग्ध इत्यसत्यमिति सूचितं । विष्णुर्नारायणो वृन्दोपहतोपि सन् अशेत । सागरमध्ये सकलपरिग्रहानूल्लसन्नपि वैचित्र्येन सुप्तवान् । येन कारणेन भवान् त्वं अजागः । जाग्रदवस्थामिवान्वभूः । अत आह । ततः सकाशात् । येन कारणेन कामेन किं वस्तु गृह्यते ? ।।१०।।

अन्वयार्थ—(स्मरः) काम (भवता एव) आपके द्वारा ही (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है (यदि नाम शम्भुः) यदि आप कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धलितात्मा) कलंकित हो गया था । और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः 'सन्') वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित हो (अशेत) शयन किया था* (येन) यत्तश्च (भवान् अजागः) आप जागृत रहे । अर्थात् काम निद्रा में अचेत नहीं हुये, इसलिये (किं गृह्यते) कामदेवके द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण

---

* अथवा वृन्द-स्त्री पुत्रादि समस्त परिग्रह के समूह से पीड़ित हो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जाती है, अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जगद्विजयी कामको आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था वह ठीक नहीं, क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुये कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत हो तरह-तरह की काम-चेष्टायें की थीं, पर आप हमेशा ही आत्मव्रत में लीन रहे तथा कामको इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका।

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव !
स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥११॥

और देव हों चाहे जैसे, पाप सहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥
जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बढ़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कहीं बढ़ जाती है॥११॥

टीका—भो देव ! स हरिहरादिप्रसिद्धः परो देवः। नीरजाः पापरहितः स्याद्वा अथवा स देव अघवान् पापसहितः स्यात्। तद्दोषकीर्त्यैव ते तव भगवतः गुणित्वं न गुणवत्ता न। निर्गतं रजो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्मात्स नीरजाः । अघं पापं विद्यते यस्य सः । तेषां हरिहरादिदेवानां दोषास्तेषां कीर्तिः कथनं तया । गुणा विद्यन्ते यस्य स तस्य भावो गुणित्वं । अम्बुराशेः समुद्रस्य स्वत एव महिमास्ति । जलाशयस्याख्यातसरोवरादिस्तोकापवादेन न स्यात् । तुच्छत्वख्यापनलक्षणादूषणेन न भवेत् । स्तोकः स्वल्प इति यो हि अपवादस्तेन ॥११॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पापरहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् 'स्यात्') पाप सहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषोंके वर्णन करने मात्र से ही (ते) आपकी (गुणित्वम् न) गुण सहितता नहीं है । (देव) हे देव ! (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभाव से ही होती है (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है'–इस तरह तालाब वगैरह की निन्दा से नहीं होती ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दूसरे के दोष बतला कर हम आप का गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते, क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं । सरोवर को छोटा कह देने मात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती, किन्तु विशालता उनका स्वभाव है इसलिये वह विशाल-बड़ा कहलाता है ।

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिम्,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥१२॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुंचाता।
और कर्म इन जग-जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नौका नाविक के जैसे, इस गहरे भव-सागर में॥
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥१२॥

टीका—भो जिनेन्द्र ! जन्तुः प्राणी। कर्मस्थितिमनेकभूमिं नानावस्थां नयति प्रापयति। कर्मणां स्थितिस्तां। च पुनः सा कर्मस्थितिः अमुं जन्तुमनेकभूमिं नयति। हि निश्चितं। भवाब्धौ तयोर्जीवकर्मणोः परस्परस्यान्योन्यस्य नेतृभावं नेतृत्वं प्रापकत्वं आख्यः कथयसि स्म। कयोरिव ? नौनाविकयोरिव। यथा नौर्नाविकमनेकभूमिं नयति। यथा नाविको नावमनेकभूमिं नयति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मोंकी स्थिति को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मोंकी स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह ले जाता है। इस तरह (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव ! (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्र में (नौनाविकयोः इव) नाव और खेवटिया की तरह (तयोः) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—सिद्धान्त-ग्रन्थों में कहा गया है कि यह जीव अपने भले बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तबतक उसका साथ नहीं छोड़ते जबतक फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म मरण कर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म मरणकर जहां तहां पैदा होना आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिये कहा गया है कि कर्म ही जीव को चारों गतियों में जहां तहां ले जाते हैं। हे भगवन् ! आप ने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्रमें पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है ॥१२॥

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति ।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥१३॥

गुणके लिये लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशुवधादिको कह निर्दोष ॥
सुखहित निज-तनको देते हैं, गिरिपातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बाल पेल निकालें तेल ॥१३॥

टीका—भो देव ! अत्वदीयास्त्वत्तः पराङ्मुखाः पुमांसः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्फुटं निश्चितं । सुखाय सुखार्थं । दुःखानि समाचरंति । गुणाय गुणार्थं दोषान् समाचरंति । धर्माय धर्मार्थं । पापानि समाचरंति । पुनः बालास्तैलाय तैलार्थं । सिकतासमूहं वालुकापुंजं । निपीडयंति पीलयन्तीत्यर्थः ॥१३॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार (बालाः) बालक (तैलाय) तेल के लिये (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक, उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिये (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुणके लिये (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिये (पापानि) पापोंको (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वोंका सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं । वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्त कर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेश कर दुःख उठाते हैं, पर सकाम तपस्या का कोई फल नहीं होता, इसलिये वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं । 'हम में शील शांति आदि गुणों का विकास हो' ऐसी इच्छा रखते हुए भी रतिलम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं, पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओंका उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणोंका विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है । इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पशुहिंसा आदि पाप करते हैं, जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो ! यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियायें उन बालकों जैसी हैं जो कि तैल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं ॥१३॥

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वामिति स्मरन्ति,
पर्यायनामानि तवैव तानि ॥१४॥

विषनाशक मणि मंत्र रसायन, औषध के अन्वेषण में।
देखो तो ये भोले प्राणी, फिरें भटकते वन-वन में ॥
समझ तुम्हें ही मणिमंत्रादिक, स्मरण न करते सुखदायी।
क्योंकि तुम्हारे ही हैं ये सब, नाम दूसरे पर्यायी ॥१४॥

टीका—विषान्यपहरतीति विषापहारस्तं। मणि तथौषधानि तथा मंत्रं च पुनः। रसायन सिद्धरसं समुद्दिश्य भ्राम्यंति भ्रमणं कुर्वंति। अहो इति खेदे। त्वं इति न स्मरंति जना इति शेषः। इतीति किं ? एतानि विषापहारमण्यादीनि तवैव भगवतः पर्यायनामानि अपरनामानि इत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विषको दूर करनेवाले (मणिम्) मणि को (औषधानि) औषधियों को (मन्त्रम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उद्देश्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर (भ्राम्यन्ति) यहां वहां घूमते हैं, किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं, और रसायन हैं (इति) ऐसा (स्मरन्ति) ख्याल नहीं करते। क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ— हे भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है। कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता धनंजय कवि के लड़के को साँप ने डस लिया, तब वे अन्य उपचार न कर उसे सीधे जिनमन्दिर में ले गये और वहां विषापहारस्तोत्र रच-कर भगवान् के सामने पढ़ने लगे। उनकी सच्ची भक्ति के प्रभाव से पुत्र का विष दूर होने लगा, और वे ज्यों ही "विषापहारं मणिमौषधानि" इस श्लोक को पढ़कर पूरा करते हैं, त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है – उसका विष—विकार बिलकुल दूर हो जाता है। कवि ने स्तोत्र को पूरा किया और इसके पाठ से विष-विकार दूर हुआ था, इसलिये इसका नाम 'विषापहार' स्तोत्र प्रचलित किया ॥१४॥

चित्ते न किंचित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रम्,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे जिनेश, तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥
वह निज-करमें कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तव मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥१५॥

टीका—भो देव ! त्वं चित्तोऽन्तःकरणे कंचित् कमपि पुमांसं न कृतवान् असि वर्तसे। येन पुंसा चेतसि देवस्त्वं कृतः अन्तःकरणे त्व देवो धृतः। तेन पुंसा सर्वं विचित्रं जगत् हस्ते कृतं। स पुमान् सर्वं जगत् हस्तामलकवत् जानातीति भावः। चित्तबाह्योऽपि सुखेन जीवति॥१५॥

अन्वयार्थ – (त्वम्) आप (चित्तो) अपने हृदय में (किंचित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) नहीं करते हैं–रखते हैं, किन्तु (येन) जिसके द्वारा (देवः) आप (चेतसि) हृदय में (कृतः) धारण किये गये हैं (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथ में कर लिया गया है–अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। यह (विचित्रम्) आश्चर्य की बात है। और आप (चित्तबाह्यः अपि) चेतन से रहित होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है-यदि मोहन के शरीर पर पाँच हजारके आभूषण हैं तो वह मोहन, जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पांच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है, तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर यहां विचित्रही बात है। आपके चित्तमें भी कुछ नहीं है, पर जो मनुष्य आपको अपने चित्तमें विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है। इस विरोध का परिहार यह है—यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिये कुछ भी नहीं है, और रागभाव न होनेसे आप मनमें भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं अमुक मनुष्यके लिये अमुक वस्तु दूं। फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओंसे शुभ कर्मोंका बन्ध कर उनके उदयकालमें सब कुछ पा लेते हैं। अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है—उसकी सब इच्छाएं शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका, मानों तीनों लोकों की सम्पत्तियां हमारे हाथ में आ गईं।

दूसरा विरोध यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। अभी जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है, पर यहां उससे विरुद्ध बात है। विरोधका परिहार यह है, कि आप चित्तबाह्य=अर्थात् मनसे चिन्तवन करने के अयोग्य होते हुए भी अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं—आप अजर अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आप में अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि भव्यजीव आपका मनसे चिंतवन भी नहीं कर पाते ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम् ।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम् ॥१६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव ।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव ॥
यदि इस से भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और ।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर ॥१६॥

टीका—भो देव ! त्वं त्रिकालं तत्त्वमवैर्जानासि स्म । त्रयश्च ते कालाश्च त्रिकालास्तेषां तत्वं । कुत इति अमीषां कालानां संख्यानियतेः कालास्त्रय एव सति नान्ये इति संख्यानियमात् । भो देव ! त्वं त्रिलोकी स्वामी असि । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी । तस्याः स्वामी कुत इति ? अमीषां लोकानां संख्यानियतेः । इतीति किं ? यतो लोकास्त्रय एव संति नान्ये इति संख्याया निश्चयात् । तेऽन्ये इतरेपि काला लोकाश्च नाभविष्यन् । अभविष्यन् चेत् यदि ते काला लोकाश्चान्येऽभविष्यन् तर्हि अमून् कालान् लोकान् प्रत्यपीदं बोधाधिपत्यं व्याप्स्यच्छश्वत् काला लोकाश्च अन्ये न सन्तीत्यर्थः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवैः) जानते हैं, तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य, पाताल, तीनों लोकों के स्वामी हैं, (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है, परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि (इदम्) ज्ञान (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) वे तथा और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ—हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात को जानते हैं, इसलिये आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है। किंतु आपके ज्ञानका साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है। यदि इनके सिवाय और भी होते तो, ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता ॥१६॥

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य,
भानोरुद्बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥१७॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय न इस से, तुम्हें लाभ कुछ होता है॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो देव ! नाकस्य पत्युर्देवेन्द्रस्य रम्य परिकर्म परिचर्यादिकं तवागम्यरूपस्योपकारी न । अगम्यमलक्ष्यं रूपं यस्य स तस्य । यदि भगवत उपकारी न तर्हि किं निष्फलं जातं । तस्यैव सेवा तत्परस्य इंद्रस्यैव । स्वस्यात्मनः सुखस्य हेतुः कारणं । कस्यैव ? भानोरिव । यथा भानोः सूर्यस्य छत्रमादरेणोद्बिभ्रत ऊर्ध्वं धरतः पुरुषस्यैवोपकारी तापहारी भवति छत्रं सूर्यस्योपकारी न भवति ॥१७॥

अन्वयार्थ—(नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय है स्वरूप जिनका ऐसे (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है ऐसे (भानोः) सूर्यके लिये (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्बिभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवाले की तरह (तस्य एव) उस इन्द्र के ही (स्वसुखस्य) आत्म-सुख का (हेतुः) कारण है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई सूर्य के लिये छत्ता लगावे, तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य छत्ता लगानेवाले से बहुत ऊपर है, परन्तु छत्ता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है । उसी प्रकार इन्द्र जो आपकी सेवा करता था उससे आपका क्या भला होता था ? क्योंकि वह वास्तवमें आपके स्वरूप को समझ ही नहीं सका था । उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता था ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः ।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वम्,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते ॥१८॥

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश ।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख-विरुद्ध आदेश ? ॥
और जगत की प्रियता भी तब, संभव कैसे हो सकती ? ।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती ? ॥१८॥

टीका—भो नाथ ! त्वमुपेक्षकः क्व सुखोपदेशः क्व । द्वौ क्व शब्दौ महदन्तर सूचयतः । उपेक्षा-तृणादिकमिदं न त्याज्यं, इदं सुवर्णादिकं न ग्राह्यं इत्येवमाकारका बुद्धिर्यस्य स उपेक्षक एवंविधस्त्वं क्व ? सुखस्योपदेशः सुखोपदेशः । स क्व । चेद्यदि सुखोपदेशः, तर्हीच्छाप्रतिकूलवादो न भवति । वा अथवाऽसावुपेक्षकः क्व । सर्वजगत्प्रियत्वं क्व । यः पुमानुपेक्षकस्तस्य पुंसः सर्वं यज्जगत्तस्य प्रियत्वं न संजाघटीति । त्वमुपेक्षकस्तव सर्वजगत्प्रियत्वं । ततस्मात्कारणात् ते तव परमेश्वरस्य यथातथ्यं अहं नावेविचं नाबूबुधम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(उपेक्षकः त्वम् क्व) रागद्वेष रहित आप कहाँ ? और (सुखोपदेशः क्व) सुख का उपदेश देना कहाँ ? (चेत्) यदि (सः) सुख का उपदेश आप देते हैं (तर्हि) तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(इच्छाप्रतिकूलवादः क्व) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है, ऐसा कथन क्यों किया जाता है? (असौ क्व) इच्छा के प्रतिकूल बोलना कहाँ ? (वा) और (सर्व-जगत्प्रियत्वम् क्व) सब जीवों को प्रिय होना कहाँ ? इस तरह जिस कारण से आपका प्रत्येक बात में विरोध है, (तत्) उस कारण से मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता-असली रूपका विवेचन नहीं कर सकता ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप रागद्वेष से रहित हैं, तब किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं ? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के विना कैसे उपदेश देते हैं ? यदि इच्छा के विना उपदेश देते हैं, तो जगत के सब जीवों को प्यारे कैसे हैं ? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर में विरुद्ध हैं। दर असल में आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता ॥१८॥

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे-
र्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१९॥

तुम समान अति तुंग किन्तु निधनों से, जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव ॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियां बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि से, नहीं निकलती, झरती हैं ।१९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो देव ! अकिंचनाच्च तुंगात् उच्चैस्तरात् यत्फलं प्राप्यं लभ्यं तत्फलं समृद्धादैश्वर्यात् धनेश्वरादेर्न प्राप्य न लभ्य । कस्मादिवाद्रेरिव । यथा निरम्भसोऽपि निरुदकात् उच्चतमात् अद्रेः पर्वतात् सकाशात् धुनो नदी निर्याति निर्गच्छतीत्यर्थः । साम्भसोऽपि पयोधेः समुद्रादेकापि धुनी न निर्याति । तथाऽसंगात् उच्चतमाद्भवतः सकाशात् यत्फलं लभ्यते तत्फलं समृद्धादप्यन्य-स्मान्नेति तात्पर्यम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् 'अस्ति') प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिशाली धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता । ठीक ही तो है, (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनि) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निक-लती है ।

भावार्थ—पहाड़के पास पानी की एक बूँद भी नहीं है। परंतु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है, इसलिये उससे कई नदियां निक-लती हैं, परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती । इसका कारण है—समुद्र में ऊँचाई का अभाव । भगवन् ! मैं जानता हूं कि आपके पास कुछ भी नहीं है। परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है—दीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है, इसलिये आप से हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती, क्योंकि समुद्र के समान वे भी औदार्य नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं ॥१९॥

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य ।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु ॥२०॥

करो जगत-जन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दंड विनय से लिया, इसलिये, प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु तुम्हारे प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आएं कैसे ?।
हे जिनेन्द्र; यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे ? ॥२०॥

टीका - भो देव ! इन्द्रो विनयेन कृत्वा त्रैलोक्यस्य सेवा तस्या नियमो निश्चयस्तस्मै । यत् यदि चेद्दण्डं दध्रेऽदधात् तर्हि तस्य इन्द्रस्य प्रातिहार्यं भवतस्तव कुतस्त्यं । प्रातिहारस्य भावः प्रातिहार्यं । यदि वा युक्तोऽयमर्थः । तस्य तीर्थकृन्नामकर्मणो योगात् तव भगवतो अस्तु ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा के नियम के लिये अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूंगा, और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा, इस उद्देश्य से (दण्डम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दण्ड (दध्रे) धारण किया था। (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रतीहारपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कहाँ से आया ? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थंकरनामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो।

भावार्थ—जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिये तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिये दण्ड धारण किया था। अर्थात् प्रतीहार पद स्वीकार किया था। जो कि किसी काम की व्यवस्था करने के लिये दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतीहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुये वालण्टियर-स्वयंसेवक। प्रतीहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा 'प्रातिहार्य' प्रतीहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है ? क्योंकि आपने प्रतीहार का काम थोड़े ही किया था! फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है। क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा श्लोक का ऐसा भी भाव हो सकता है—'तीन लोक के जीव भगवान् की सेवा करो' इस नियम को प्रचलित करने के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिये इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था—इसलिये प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही वन सकता है, आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है, क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया के कर्मकारक का सम्बन्ध होता था। यहां एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है—लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान् के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य-आभूषण होते हैं। यहां कवि, प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं। इन्द्र के प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो, पर आपके प्रातिहार्य-आभूषण कहाँ से आये ? फिर उपचार पक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौंदर्य-वृद्धि के साथ सम्बन्ध होना है ॥२०॥

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः,
श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः ।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायी-
क्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम् ॥२१॥

धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं।
पर निधनों को तुम सिवाय जिन, कोई भला न कहते हैं॥
जैसे अन्धकारवासी उजियालेवाले को देखे।
वैसे उजियालावाला नर, नहिं तमवासी को देखे ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो देव ! त्वत्तः सकाशात् अन्यः कः निस्वः दरिद्रो श्रिया लक्ष्म्या परमुत्कृष्ठं साधु यथा स्यात्तथा पश्यति विलोकयति । त्वदन्यः श्रीमान् कृपणं साधु न पश्यति । यथा अन्धकारस्थायी पुमान् प्रकाशस्थितं पुरुषमीक्षते पश्यति तथाऽसौ प्रकाशस्थायी पुमान् तमस्स्थं पुरुषं नेक्षते नालोकयति । प्रकाशे स्थितस्तं । अन्धकारे तमसि तिष्ठतीति तम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(निःस्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम्) लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को (साधु) अच्छी तरह आदरभाव से (पश्यति) देखता है, किन्तु (त्वदन्यः) आपसे भिन्न (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धन को (साधु न पश्यति) अच्छे भावों से नहीं देखता । ठीक है (अन्धकारस्थायी) अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाशस्थितम्) उजेले में ठहरे हुए पुरुष को (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है, (तथा) उस प्रकार (असौ) उजेले में स्थित पुरुष (तमःस्थम्) अँधेरे में स्थित पुरुष को (न ईक्षते) नहीं देख पाता ।

भावार्थ—हे प्रभो ! संसार के श्रीमान् निर्धन पुरुषों को बुरी दृष्टि-निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान् होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते । उन्हें भी अपनाकर हित का उपदेश दे सुखी करते हैं । इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमानों से भिन्न ही श्रीमान् हैं । दोनों को श्री-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मी में भेद जो ठहरा। उनके पास रुपया, चांदी, सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है, पर आपके पास अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी है ॥२१॥

स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि,
प्रत्यक्षमात्मानुभवेपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोध-
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥२२॥

निज शरीर की वृद्धि श्वास-उच्छ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें, ऐसा भी अनुभव अपना ॥
कर न सकें जो तुच्छबुद्धि वे, हे जिनवर; क्या तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप ? ॥२२॥

टीका—लोक आत्मानुभवेऽपि निजस्वरूपानुभवेऽपि। प्रत्यक्षं साक्षात्। मूढो मूर्खो वर्तते। आत्मनोऽनुभवः आत्मानुभवस्तस्मिन्। च पुनः लोकोऽखिलज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपं अध्यक्षं मम प्रत्यक्षं किमवैति जानाति ? अपि तु न जानातीत्यर्थः। अखिलाश्च ते ज्ञेयाः पदार्थास्तेषां विवर्त्तिनः पर्यायास्तेषां बोधस्तस्य स्वरूपं तत्त्वं। कथंभूते आत्मानुभवे ? स्ववृद्धिनिश्वासनिमेषभाजि। स्ववृद्धिश्च निश्वासश्च निमेषाश्च तान् भजतीति तस्मिन् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि (यः) जो मनुष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(स्ववृद्धिनिःश्वासनिमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास, और आंखों की टिमकार को प्राप्त (आत्मानुभवे अपि) अपने आपके अनुभव करने में (मूढ़ः) मूर्ख है. (स लोकः) वह मनुष्य (अखिलज्ञयविर्वातिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान ही है स्वरूप जिसका ऐसे (अध्यक्षम्) अध्यात्मस्वरूप आपको (किं च अवेति) कैस जान सकता है ?

भावार्थ—भगवन् ! जो मनुष्य अपने आपके स्थूल पदार्थों को भी जानने के लिये समर्थ नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है ? अर्थात् नहीं जान सकता ॥२२॥

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव,
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं,
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥

'उनके पिता' 'पुत्र हैं उनके', कर प्रकाश यों कुल की बात ।
नाथ; आपकी गुण-गाथा जो, गाते हैं रट रट दिनरात ॥
चारु चित्तहर चामीकर को, सचमुच ही वे विना विचार ।
उपल-शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार ॥२३॥

टीका—भो देव ! ये लोकास्त्वां भगवन्तं अवगायंति । किं कृत्वा तस्य श्रीनाभेरात्मजः पुनस्तस्य श्रीभरतचक्रवर्त्तिनः पितेत्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुना प्रकारेण कुलं प्रकाश्य प्रकटीकृत्य । ते पुरुषा अद्यापि ननु निश्चितं । पाणौ करकमले । कृतं हेम सुवर्णं अवश्यं निश्चितमाश्मनं पाषाणोद्भवं इति विलोक्य पुनस्त्यजंति जहतीत्यर्थः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य आत्मजः) उसके पुत्र हो और (तस्य पिता) उसके पिता हो (इति) इस प्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुल का वर्णन कर (त्वाम् अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं, (ते) वे (अद्य अपि) अब भी (पाणौ कृतम्) हाथ में आए हुए (हेम) सुवर्ण को (आश्मनम्) पत्थर से पैदा हुआ है, (इति) इस हेतु से (पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं ।

भावार्थ—एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है, फिर फेंक देना मूर्खता है । इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता । यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्य-कुल में पैदा बतला कर फिर भी छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर मूर्खता है । सुवर्ण यदि शुद्ध है, चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनियां के किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी । और मैल सहित है—अशुद्ध है, तो किसी भी अच्छे पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती । इसी प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मल से रहित है, भले ही वह उस पर्याय में नीच कुल में पैदा हुआ हो, वह पूज्य कहलाता है, और यदि वही आत्मा उच्च कुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है—मलिन है तो उसे कोई पूछता भी नहीं है ॥२३॥

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः,
सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः ।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुम्,
मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः ॥२४॥

तीन लोक में ढोल बजाकर, किया मोह ने यह आदेश ।
सभी सुरासुर हुए पराजित, मिला विजय यह उसे विशेष ॥
किन्तु नाथ; वह निबल आपसे, कर सकता था कहाँ विरोध ।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद ॥२४॥

टीका—भो देव ! मोहस्य मोहनीयकर्मणः । त्वयि विषये विरोद्धुं स्पर्धायितुं को मोहः भ्रमः । समानबलाय स्पर्धा न तु न्यूनाधिकयोः । तस्य मोहस्य स महान् लाभो यः सुरासुरा देवदानवादयोऽभिभूताः पराभूता इति त्रैलोक्ये पटहो दत्तः । कुत एवं भ्रमतः ? । बलवद्भिः सह विरोधो मूलस्य नाशो भवति ॥२४॥

अन्वयार्थ—मोह के द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकों में (पटहः) विजय का नगाड़ा (दत्तः) दिया गया - बजाया गया उस से जो (सुरासुराः) सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुये,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सः) वह (तस्य) उस मोह का (महान् लाभः) बड़ा लाभ हुआ, किंतु (त्वयि) आपके विषय में (विरोद्धुम्) विरोध करने के लिये (मोहस्य) मोह को (कः) कौनसा (मोहः) भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (बलवद्विरोधः) बलवान के साथ विरोध करना (मूलस्य नाशः) मानो मूल का नाश करना है।

भावार्थ– हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवोंको अपने वश कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोह रहित-रागद्वेष शून्य हैं ॥२४॥

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः,
चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन,
त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः ॥२५॥

तुम ने केवल एक मुक्ति का, देखा मार्ग सौख्यकारी।
पर औरों ने चारों गति के, गहन पंथ देखे भारी ॥
इस से सब कुछ देखा हम ने, यह अभिमान ठान करके।
हे जिनवर; नहिं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके ॥२५॥

टीका—भो नाथ! त्वया भगवता। एकोऽद्वितीयो विमुक्ते-र्मार्गो ददृशे दर्शितः। परेण हरिहरादिदेवेन। चतुर्गतीनां नरक-तिर्यग्देवमनुष्यपर्यायाणां। गहनं ददृशे दर्शितं। भो देव! मया सर्वं दृष्टमिति स्मयेनेत्यहंकारभरेण त्वं कदाचित् भुजं निजबाहु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिखर मालुलोक: माद्राक्षीः । इति निन्दास्तुत्यलंकारविष्टंभेन त्वमेव मुक्तोऽन्ये सर्वेऽपि ससारिणः इति तात्पर्यम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(त्वया) आपके द्वारा (एक:) एक (विमुक्तेः) मोक्ष का ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरों के द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियों का (गहनम्) सघन वन (ददृशे) देखा गया है, मानों इसीलिये (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है, (इति स्मयेन) इस अभिमान से (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजाको (मा आलुलोकः) नहीं देखा था।

भावार्थ—घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, परं आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजा की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है—कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और अन्य देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं, इसलिये मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूं। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा ? श्लोक का तात्पर्य यह है—कि आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होनेवाले हैं, परन्तु अन्य देवी-देवता अपने अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं ।।२५।।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः,
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारभोगस्य वियोगभावो,
विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥२६॥

रवि को राहु रोकता है, पावक को वारि बुझाता है।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, जलनिधि को नाच नचाता है॥
ऐसे ही भव-भोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव।
तुम सिवाय सबकी बढ़ती पर, घातक लगे हुए हैं देव॥२६॥

टीका—भो देव! त्वत्तः सकाशात् अन्ये यावन्तः पदार्थाः सन्ति तावन्तो विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति। विपक्षपूर्वः शत्रुपूर्वः अभ्युदयो भाग्यमेषां ते। अर्कस्य सूर्यस्य स्वर्भानुः राहुर्विघातोऽस्ति। हविर्भुजोऽग्नेरंभस्तोयं विघातं। अम्बुनिधेः समुद्रस्य कल्पान्तवातो विघातः। संसारभोगस्य स्रक्चंदनवनितादेर्वियोगभावो विघातः। इति विपक्षपूर्वाः सर्वे। त्वमेव नेति भावः॥२६॥

अन्वयार्थ—(स्वर्भानुः) राहु (अर्कस्य) सूर्य का, (अम्भः) पानी का, (हविर्भुजः) अग्नि का, (कल्पांतवातः) प्रलयकाल की वायु (अम्बुनिधेः) समुद्र का तथा (वियोगभावः) विरहभाव (संसारभोगस्य) संसार के भोगों का (विघातः) नाश करनेवाला है, इस तरह (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्षपूर्वाभ्युदयाः 'सन्ति') विनाश के साथ ही उदय होते हैं।

भावार्थ- हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्य स्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं, अर्थात् आप जन्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती है ॥२६॥

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्,
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति ।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः,
तं तस्य बुद्धया वहतो न रिक्तः ॥२७॥

विन जाने भी तुम्हें नमन करने से जो फल फलता है ।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहिं मिलता है ॥
ज्यों मरकत को काच मानकर, करगत करनेवाला नर ।
समझ सुमणि जो काच गहे, उसके सम रहे न खाली कर ।२७॥

टीका—भो नाथ ! त्वामष्टविधप्रातिहार्यविभवालंकृतं त्वामजानतो नमतः पुरुषस्य यत्फलं स्यात् । तु पुनरन्यं कंचन देवतेति जानतो नमतः पुरुषस्य तत्फलं न स्यात् । काचधिया काचबुद्धया हरिन्मणिं नीलरत्नं दधानः पुमांस्तस्य हरिन्मणेर्बुद्धया तं काचं वहतः पुरुषात् सकाशात् रिक्तो न ॥२७॥

अन्वयार्थ—(त्वाम्) आपको (अजानतः) विना जाने ही (नमतः) नमस्कार करनेवाले पुरुष को (यत् फलम्) जो फल होता है, (तत्) वह फल (अन्यं देवता इति जानतः) दूसरे को 'देवता है' इस तरह जाननेवाले पुरुष को (न तु) नहीं होता । क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणि को (काचधिया) काच की बुद्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से (दधानः) धारण करनेवाला पुरुष (तं तस्य बुद्ध्या वहतः) हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करनेवाले पुरुष की अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपको नमस्कार करता है, पर आपके स्वरूप को नहीं जानता, उसे भी जो पुण्यबन्ध होता है, वह किसी दूसरे को देवता माननेवाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अजान मनुष्य हरित मणि को पहन कर उसे काच समझता है, तो वह दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहिन रहा है, निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी सम्पत्तिके अधिकारी कहे जाते हैं। श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्प ज्ञान भी प्रशंसनीय है ॥२७॥

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः,
दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः ।
गतस्य दीपस्य हि नंदितत्वम्,
दृष्टं कपालस्य च मंगलत्वम् ॥२८॥

विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पंडित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं॥
जैसे 'बुझे हुए' दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल बिघट जाने को, 'मंगल हुआ' समझते हैं ॥२८॥

टीका—प्रशस्ता प्रशस्या वाग् वाणी येषां ते चतुराः पुमांसः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायैः क्रोधमानमायालोभादिभिः । दग्धस्य पुंसः । देवः परमेश्वरस्तस्य व्यवहारमाहुर्भणन्ति स्म । हि निश्चितं । तैः पुरुषैः । गतस्य प्रनष्टस्य दीपस्य नन्दितत्वं वर्धमानत्वं दृष्टं । च पुनस्तैः कपालस्य खर्परस्य मंगलत्वं मांगल्यं दृष्टम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(प्रशस्तवाचः) सुन्दर वचन बोलनेवाले (चतुराः) चतुर मनुष्य (कषायैः दग्धस्य) कषायों से जले हुये पुरुष के भी (देवव्यवहारम् आहुः) देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं । सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुये दीपक का (नंदित्व) बढ़ना (च) और (कपालस्य) फूटे हुये घड़े का (मङ्गलत्वम्) मङ्गलपन (दृष्टम्) देखा गया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! लौकिक मनुष्य रागी द्वेषी जीवों के भी देव शब्द का व्यवहार करते हैं, सो सिर्फ लोकव्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती । क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है । जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं कि दीपक बढ़ गया ! और जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का कल्याण हो गया ॥२८॥

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्,
हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः ।
निर्दोषतां के न विभावयंति,
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए ।
सुनकर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में लगे हुए ॥
वक्ता का निर्दोषपना जानेंगे, क्यों नहिं हे गुणमाल ।
ज्वरविमुक्तजाना जाता है, स्वर परसे सहजहि तत्काल ॥२६॥

टीका—भो देव ! त्वदुक्तं त्वया प्रणीतमदः प्रसिद्धवचो। निशमय्य श्रुत्वा । ते तव । वक्तुर्निर्दोषतां दोषरहिततत्त्वं । के पुरुषा न विभावयंति । ज्वरेण मुक्तः पुमान् स्वरेण कृत्वा सुगमः सुखेन ज्ञेयो भवति । कीदृशं वचो ? नाना बहवोऽर्था यस्मिन् तत्। पुनः कथंभूतमेकोऽद्वितीयः पूर्वापरविरोधरहितः अर्थो यस्मिन् तत् । पुनः हितं हितकारी । दोषान्निष्क्रान्तो निर्दोषस्तस्य भावस्ताम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजन युक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुये (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनों को (निशमय्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आपके जैसे वक्ता की (निर्दोषताम्) निर्दोषता को (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते हैं, अर्थात् सभी करते हैं । जैसे (यः) जो (ज्वरेण मुक्तः 'भवति') ज्वर से मुक्त हो जाता है (सः) वह (स्वरेण सुगमः 'भवति') स्वर से सुगम हो जाता है । अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है ।

भावार्थ—आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं । यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है, पर अंत में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धांत से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित हैं। हे भगवन् ! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं, क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता, जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि वह ज्वर से मुक्त है, क्योंकि ज्वरसे पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता ॥२९॥

न क्वापि वांछा ववृते च वाक्ते,
काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः ।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः,
स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥३०॥

यद्यपि जगके किसी विषय में, अभिलाषा तव रही नहीं ।
तो भी विमल वाणि तव खिरती, यदा कदाचित् कहीं-कहीं ॥
ऐसा ही कुछ है नियोग यह, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव ।
ज्वार बढ़ाने को न ऊगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव ॥३०॥

टीका—भो देव ! तव भगवतः क्वापि कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि वांछा न। च पुनः वाक्ववृते प्रवर्त्तिता दिव्यध्वनिः प्रवर्त्तित इति भावः। क्वचित्काले कोऽपि अनिर्वचनीयस्तथा नियो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोऽस्ति । शीतद्युतिश्चन्द्रः अम्बुधिं पूरयामीत्युदंशुर्न हि स्वयमभ्युपैति । उदेति क्वचित्काले कोऽपि यथा तस्य नियोगोऽस्ति तथैवेति भावः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तु में (वांछा न) इच्छा नहीं है, (च) और (वाक् ववृते) वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में (क्वचित् काले) किसी काल में (तथा) वैसा (कः अपि नियोगः) कोई नियोग-नियम ही होता है। (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा (अम्बुधिम पूरयामि) मैं समुद्र को पूर्ण कर दूं, (इति) इसलिये (उदंशुः न भवति) उदित नहीं होता किन्तु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभाव से ही उदित होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूं, पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं, इसी प्रकार आपके यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूं, पर वैसा स्वभाव होने से स्वयं ही आपके वचन प्रकट होने लगते हैं ॥३०॥

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्नाः,
बहुप्रकारा बहवस्तवेति ।
दृष्टोऽयमन्तस्तवने न तेषाम्,
गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ॥३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे प्रभु; तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं, गहरे हैं।
बहु प्रकार हैं, पार रहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं ।।
स्तुति करते करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में ।
इनमें जो नहिं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में ।।३१।।

टीका—भो नाथ ! तव भगवतो गुणा गभीरा अगाधाः । परमा उत्कृष्टाः । प्रसन्ना निर्मलाः । बहुप्रकारा नानाविधाः । बहवोऽनन्ता । इति स्तवनेन कृत्वा । गुणानामयमन्तः पारो दृष्टस्तेषां गुणानामन्तः परः किमस्ति ।।३१।।

अन्वयार्थ—(तव) आपके (गुणाः) गुण (गभीराः) गम्भीर (परमाः) उत्कृष्ट (प्रसन्नाः) उज्ज्वल (बहुप्रकाराः) अनेक प्रकार के और (बहवः) बहुत हैं (इति अयम्) इस प्रकार (स्तवनेन) स्तुति के द्वारा ही (तेषां गुणानां) उन गुणों का (अन्तो दृष्टः) अन्त देखा गया है । (अतः परः गुणानां अन्तः किम अस्ति) इसके सिवाय गुणों का अन्त क्या होता है ? अर्थात् नहीं ।

भावार्थ—स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिये उनका अन्त हो जाता है. अन्य प्रकार से उनका अन्त संभव नहीं है ।।३१।।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या,
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मरामि देवं ! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम् ॥३२॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूं, प्रतिदिन प्रतिपल॥
स्मृति करके सुमरन करता हूं, पुनि विनम्र हो नमता हूं।
किसी यत्न से भी, अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूं ॥३२॥

टीका—भो देव ! हि निश्चितं। परं केवलं। स्तुत्या कृत्वा मनोऽभिलषितं न। तत्तस्मात्कारणात् भक्त्या देवमहं भजामि। च पुनः। स्मृत्या देवं नित्यं स्मरामि। च पुनः। प्रणत्या देवं नित्यं प्रणमामि। हि निश्चितं प्राणिनां केनाप्युपायेन गुणानां फलं साध्यमुपार्जनीयं ॥३२॥

अन्वयार्थ—(स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती, (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति और नमस्कृति से भी होती है, (ततः) इसलिये मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूं, आपका स्मरण करता हूं, और आपको प्रणाम करता हूं (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिये।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान से, और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है इसलिये मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूं, भक्ति करता हूं, ध्यान करता हूं और नमस्कार करता हूं। क्योंकि मुझे जैसे बने तैसे अपना कार्य सिद्ध करना है ।।३२।।

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,
नित्यं परंज्योतिरनंतशक्तिम् ।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,
नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम् ।।३३।।

इसीलिये शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम ।
पुण्य पाप बिन, परम पुण्यके कारण, परमोत्तम गुणधाम ।।
वन्दनीय, पर जो न और की, करें वन्दना कभी मुनीश ।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूं प्रणाम धर सीस ।।३३।।

टीका – ततस्तस्मात्कारणात् अहं त्रिलोकीनगराधिदेवं नमामि । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी सैव नगरं तस्याधिदेवः स्वामी तं । कीदृशं देवं ? नित्यं शश्वद्भावापन्नं । पुनः कथंभूतं ? परज्योतिषा परं ज्ञानेनानंतवीर्यं यस्य स तं । पुनः कथंभूतं ? न विद्यते पुण्यपापे यस्य तं । पुनः परेषां प्राणिनां पुण्यहेतुः पुण्यकारणं तं । पुनः कथंभूतं ? वन्द्यं सुरासुरादिशतेन्द्रस्तुत्यं । पुनः कथंभूतं ? अवंदितारं अवंदकं । वंदतेऽसौ वंदकः न वंदकोऽवंदकस्तं ।।३३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ततः) इसलिये (अहम्) मैं (त्रिलोकीनगराधिदेवम्) तीन लोक रूप नगर के अधिपति, (नित्यम्) विनाश रहित, (परम्) श्रेष्ठ (ज्योतिः) ज्ञान-ज्योतिस्वरूप (अनन्तशक्तिम्) अनन्तवीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य के कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अवन्दितारम्) किसी को नहीं वन्दने वाले (भवन्तम्) आपको (नमामि) नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप तीन लोक के स्वामी हैं, आप का कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं, आप में अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं। आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं। आपकी इस विचित्रता से मुग्ध होकर मैं भी आपके लिये नमस्कार करता हूं ॥३३॥

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यै-
र्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥३४॥

जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गंध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब पदार्थ जो जानें, पर न जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूं सुमरन उनको ॥३४॥

टीका—त्वां जिनेन्द्रमहमनुस्मरामि नित्यं ध्यायामि । कथंभूतं त्वां ? न विद्यते शब्दो यस्य स तं । न स्पर्शो यस्य स तं । न रूपगन्धो यस्य स तं । रसान्निष्क्रान्तो यः स तं । पुनः त एव विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषां । अवबोधो ज्ञानं यस्य स तं । सर्वस्य त्रैलोक्यस्य दंडाकारेण घनाकारेण माता प्रमापकस्त। पुनः माया ज्ञानस्य विषयो मेयः न मेयोऽमेयस्तं । करन्यैर्लोकैः पुनः स्मारयतीति स्मार्यः न स्मार्यः अस्मार्यस्तं । अस्मारकमित्यर्थः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(अशब्दम्) शब्द रहित, (अस्पर्शम्) स्पर्श रहित (अरूपगन्धम्) रूप और गन्ध रहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवान का प्रतिक्षण स्मरण करता हूं – ध्यान करता हूं।

भावार्थ – हे भगवन् ! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता, तथापि मैं अपने बाल-साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूं ॥३४॥

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि ॥३५॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय ।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय ॥
जो इस जगके पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार ।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूं मैं शरण उदार ॥३५॥

टीका—अहं तं जिनानां पतिं गणधरदेवानां स्वामिनं प्रति शरणं व्रजामि यामीत्यर्थः । कथंभूतं त ? अगाधं गम्भीरमित्यर्थः । पुनः अन्यैर्लोकैः मनसाप्यलंघ्यं लंघितुमशक्यं । पुनः निष्किंचनम-संगं चतुर्विंशतिधापरिग्रहरहितत्वात् । पुनः अर्थवद्भिर्लोकैः प्रार्थितं। पदार्थवद्भिर्धनेश्वरैर्वा याचितं मनोभिलषितदातृत्वात् । पुनः विश्वस्य त्रैलोक्यस्य पारं प्राप्तं लोकप्रकाशकज्ञानाधिष्ठातृत्वात् । अदृष्टपारं न दृष्टः पारो यस्य स तं ॥३५॥

अन्वयार्थ—(अगाधम्) गम्भीर (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मनसे भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य (निष्किंचनम्) निर्धन होनेपर भी (अर्थवद्भिः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित (विश्वस्य पारम्) सबके पारस्वरूप होनेपर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पारअन्त कोई नहीं देख सका है, ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप बहुत ही गम्भीर, धैर्यवान हैं। आपका कोई मनसे भी चितवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिये कुछ भी नहीं है, तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं, आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत के जीवों के पति-रक्षक हैं, ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूं ॥३५॥

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत ।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुलपर्वतोऽभूत ॥३६॥

मेरु बड़ासा पत्थर पहले, फिर छोटासा शैलस्वरूप ।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नत रूप ॥
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार ।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन-गुरु को, नमस्कार है बारम्बार ॥३६॥

टीका—भो भगवन् ! ते तुभ्यं नमः। कथंभूताय ते ? त्रैलो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्यस्याधोमध्योर्ध्वलोकोद्भूतजनस्य दीक्षोपदेशसूत्रगुरुस्तस्मै । यस्त्वं वर्द्धमानोऽपि सन् निजोन्नतः स्वयमेवोन्नतोऽभूत् मेरुः सुदर्शनः । प्राग् पूर्वं । गण्डशैलः सन् पुनरद्रिकल्पः पर्वततुल्यो- ऽभूत् । पश्चाद्वर्द्धमानोऽपि कुलपर्वतः नाभूत् न बभूवः ।।३६।।

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु स्वरूप आपके लिये नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रमसे उन्नति को प्राप्त होते हुये भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) हुये थे । (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा था ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो । इस श्लोक के द्वितीय पाद में विरोधाभास अलकार है । वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं—अर्थात् क्रमसे बढ़ रहे हैं फिर भी निजोन्नत-अपने आप उन्नत हुए थे । जो चीज बढ़ रही है; वह पहिले उससे छोटी ही होती है न कि बड़ी, पर यहाँ इससे विपरीत बात है । विरोध का परिहार इसप्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे, न कि क्रम क्रमसे उन्नत हुए थे । क्योंकि मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम क्रमसे उन्नत हुआ है । यहाँ वर्धमान पद श्लिष्ट है ।।३६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम् ।
न लाघवं गौरवमेकरूपं,
वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ॥३७॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभुको, रात दिवस नहिं रोक सका ।
लाघव गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका ॥
एक रूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत ।
भक्ति-भारसे झुककर उसकी, करूँ वंदना परम पुनीत ॥३७॥

टीका— अहं विभुं व्यापकं प्रभुं । वंदे नमस्करोमि । कथंभूतं तं ? कालस्य कला क्षणादिसमयस्तामतीतं रहितं । यस्य स्वयंप्रकाशस्य भगवतः तव दिवा दिवसो वा अथवा रात्रिर्बाध्यता न बाधको न । तयोस्तव बाधकत्वमपि न । तव भगवतो लाघवं गौरवमपि न । कीदृशमेकरूपं ? एकमद्वितीयं ज्योतिर्लक्षणं रूपं यस्य स तम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी । इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है न गौरव भी, उन (एकरूपम्) एकरूप रहनेवाले और (काल-कलाम् अतीतम्) काल-कला से रहित अर्थात् अन्त रहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को वन्दना करता हूं।

भावार्थ—स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास जिस प्रकार रात और दिन का व्यवहार नहीं होता; क्योंकि प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं, और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता, और जब रातका व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाला दिन का व्यवहार भी नहीं होता, उसी प्रकार आप में भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है; आप किसी को बाधा नहीं पहुंचाते, इसलिये आपमें बाधकत्व नहीं और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुंचा सकता, इसलिये आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता, और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं उसमें बाध्य का भी व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर में सापेक्ष हैं। उसीप्रकार आपमें न लाघव ही है और न गुरुत्व ही। दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समयं की मर्यादा से भी रहित हैं, अर्थात् अनन्तकाल तक ऐसे ही रहे आवेंगे ॥३७॥

इति स्तुतिं देव ! विधाय,
दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः,
स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥३८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार गुणकीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान ।
वर न मांगता हूं मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान ।।
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव ।
छाँह-याचना करने से फिर, लाभ कौनसा है जिनदेव ? ।३८।।

टीका—भो देव ! इत्यमुना प्रकारेण । स्तुति स्तवनं । विधाय दैन्यात् दीनभावात् । अहं वरं न याचे । त्वमुपेक्षकोऽसि । तरुं वृक्षं संश्रयतः पुरुषस्य । स्वतः स्वभावेन छाया स्यात् । तत्र प्रार्थना न लगति । छायया याचितया क आत्मनः स्वस्य लाभो भवति न कोऽपीत्यर्थः ।।३८।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीन भाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं मांगता, क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं, रागद्वेष से रहित हैं, अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है । (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छाया की याचना से क्या लाभ है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्राय लड़के को आपके सामने लाया हूं, इसलिये स्तुति कर चुकने के बाद मैं आप से यह वरदान नहीं मांगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें । क्योंकि मैं जानता हूं कि आप रागद्वेष से रहित हैं, इसलिये न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते-छीनते भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे—जो मनुष्य वृक्ष के नीचे पहुंचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता ॥३८॥

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोध-
स्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव! तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥३९॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरन-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो ॥
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शंका इस में जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधी जन दया नहीं ॥३९॥

टीका—भो देव! अथानंतरं। यदि चेत्। दित्सा दातुमिच्छास्ति। वाऽथवा। उपरोधोऽनुग्रहोऽस्ति। तर्हि त्वय्येव सक्तां भक्तिबुद्धिं दिश देहि। भक्तेर्बुद्धिस्तां। भक्तिर्विद्यते यस्याः सा तां। भो देव तथा सा भक्तिबुद्धिः मे मम कृपां करिष्यते विधास्यतीति भावः। वा अथवा। आत्मनः स्वस्य पोषकः। सूरिः पंडितः। सुमुखो न स्यात्। आत्मपोषणे सर्वोऽपि सूरिः सुमुखो भवति ॥३९॥

अन्वयार्थ—(अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छा है. (यदि वा) अथवा वरदान मांगो ऐसा (उपरोध: 'अस्ति') आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आप में लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी बुद्धि को (दिश) देओ। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव ! आप (से) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वा सूरि:) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न 'भवति') अनुकूल नहीं होता ! अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि आपकी कुछ देनें की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूं कि मेरी भक्ति आप में ही रहे। मेरा विश्वास है कि आप मुझ पर उतनी कृपा अवश्य करेंगे। क्योंकि विद्वान पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं ॥३९॥

पुष्पिताग्रा छन्द

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानि भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनं जयं च ॥४०॥

यथाशक्ति थोड़ी सी भी, की हुई भक्ति श्रीजिनवर की।
भक्तजनों को मनचाही सामग्री देती जगभर की॥
इससे गूंथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सौख्य सुयश को, तथा 'धनंजय' को शुचितर॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—भो जिन ! यथा कथंचित् । विहिता निर्मिता। भक्तिर्विनताय नम्रीभूताय । मनीषितानि मनोऽभिलषितानि। वितरति ददाति । पुनस्त्वयि विषये नुतिविषया स्तुतिविषयिणी भक्तिस्त्वद्गोचरीभूता या भक्तिः । विशेषात् सुखानि च पुनर्यशश्च पुनर्धनं च पुनर्जयं च दिशति ददाति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह (विहिता) की गई (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिये (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरति) देती है, (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषय में की गई (नुतिविषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है।

इति धनंजयमहाकविकृतं विषापहारस्तोत्रम् समाप्तम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वीतरागाय नमः

श्रीभूपालकविप्रणीता–

जिनचतुर्विंशतिका

संस्कृतटीकाकार पं० प्रवर आशाधरकृत मंगलाचरण

प्रणम्य जिनमज्ञानां संज्ञानाय प्रचक्षते ।
आशाधरो जिनस्तोत्रं श्रीभूपालकवेः कृतिम् ॥१॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत् ।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदं
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥१॥

—सुकवि धन्यकुमारजी "सुधेश" कृत हिन्दी-पद्यानुवाद

जो अभीष्टप्रद तथा कल्प-दलके, समान सत्कान्ति-निकेत ।
जिनवरके पद-युगका दर्शन प्रातः करता भक्ति समेत ॥
वह होता श्री-सोध, महीका कुल-गृह, यशका लीलागार ।
सरस्वतीका सद्म विजयश्रीका आलय उत्सव-भण्डार ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—श्रियो लक्ष्म्याः लीलायतनं विलासगृहं यः प्रातर्जिनाङ्घ्रिद्वयं द्रष्टा स्यात् भवेत्। भवितुमर्हतीत्यर्थः। स्यादित्यत्र, 'तृज्याश्चार्हे' इत्यनेन लिङ्। श्रीलीलायतनमित्यत्र लीलाग्रहणमायतनार्थस्य चारुत्वप्रत्यायनार्थम्। च पुनस्त्वं चात्र वसन्त्या लक्ष्म्या विपदुपनिपातातङ्कशङ्कानिरासः। काव्य गुणश्चात्रोदार्य्यम्॥ यदाह वाग्भट्टः—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः।
मिलितानां यदाधान तदौदार्य्यं स्मृतं यथा॥

गन्धेभविभ्राजितधामलक्ष्मी लीलाम्बुजछत्रमपास्य राज्यम्।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार॥१॥

तथा मह्याः पृथिव्यास्तात्स्थ्याद्वर्णाश्रमाणां कुलगृहं तेषां तदनुरागस्य वा प्रसूतिहेतुत्वात् स स्यात्। तथा कीर्तेर्यशसः प्रमोदास्पदमानन्दमन्दिरं पुरुषान्तरवृत्तिनिरोधित्वात् स, स्यात् तथा वाग्देव्याः सरस्वत्या रतिकेतनं मनोवस्थानमनन्यसाधारणत्वात् स, स्यात्। तथा शत्रुपराभवेन स्वोत्कर्षकरणं जयस्तस्य तस्मात्तस्मिन् वा रमा लक्ष्मीस्तस्याः क्रीडानिधानं केलिनिधिस्तदुपघातप्रतिबन्धित्वात्स, स्यात्। महदिति सर्वविशेषणतया योज्यम्। तथाहि। स श्रीलीलायतनं महद्विपुलं स्यात्। निःश्रेयसावसानमभ्युदयं स, भजेदिति भावः॥ तथा चोक्तम्—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति तथा सर्वेषां महोत्सवानां गर्भावतारादिकल्याणानामेकमुत्कृष्टं भवनमाश्रयः स स्यात् यः प्रातः प्रभात उपलक्षणमेतत् तन्मध्याह्नेऽपराह्णे च जिनाङ्घ्रिद्वयमर्हच्चरणयुगलं पश्यत्यवलोकयति। कथंभूतं प्रार्थितार्थस्य प्रकर्षेण दायकम्। अतएव कल्पपादपस्य दलन्ती विनश्यन्ती छाया कान्तिर्यस्मात्। कल्पवृक्षो हि यावन्तमर्थमाश्रितो वाञ्छति तावन्तमेव दत्ते भगवच्चरणयुगलं तु मनोरथातिरिक्तमपीति कल्पवृक्षादस्य व्यतिरेकः। व्यतिरेकश्चायं काव्यालङ्कारः। अथवा। कल्पपादपदलस्येव छाया कान्तिर्यस्य। आरुण्यातिरेकात्। दलशब्देनात्र पल्लवो ग्राह्यः। तस्य पल्लवार्थेऽपि रूढित्वात्। यदभ्यगीष्ट भट्टरुद्रटः—'अधर दलन्ते तरुणा' इति। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ॥१॥

साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी शास्त्रीकृत
सान्वयार्थ और भाषा-टीका

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (प्रातः) प्रभातके समय (प्रार्थितार्थप्रदम्) इच्छित वस्तुओं को देनेवाले तथा (कल्पपादपदलच्छायम्) कल्पवृक्षके पल्लव समान कान्तिके धारक (जिनाङ्घ्रिद्वयम्) जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगलको (पश्यति) देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है, (सः) वह (श्रीलीलायतनम्) लक्ष्मीका क्रीड़ागृह, (महीकुलगृहम्) पृथिवीका कुल भवन, (कीर्तिप्रमोदास्पदम्) यश और हर्षका स्थान (वाग्देवीरतिकेतनम्) सरस्वतीका क्रीड़ा-मन्दिर (महत् जयरमाक्रीडानिधानम्) विजय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मीका विशाल क्रीड़ास्थान और (सर्वमहोत्सवैक भवनम्) सब बड़े-बड़े उत्सवोंका मुख्य घर (स्यात्) होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकालके समय जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन करता है, वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वशमें रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्धमें उसकी विजय होती है, अधिक क्या कहें, उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं ॥१॥

बसन्ततिलका छन्द

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः।
संसारमारवमहास्थलरुन्द्रसान्द्र–
च्छायामहीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥२॥

देव ! आपका तन प्रशान्त है, वचन कर्ण प्रिय औ आचार।
अनायास ही करता रहता, सभी प्राणियोंका उपकार॥
अतः आप ही जग-मरुथलके सघन वृक्ष हैं छायादार।
यही हेतु जो विज्ञ आपका आश्रय लेते बारम्बार ॥२॥

टीका—शान्तं निर्विकारं सौम्यमित्यर्थः वपुः शरीरं तवास्तीति संबन्धः। श्रवणहारि श्रोत्रप्रियं वचो वाक्यं तवास्ति। चरित्रं चरणं विहरणक्रिया सामायिकादि चारित्रं वा सर्वेषां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राणिनामुपकारि उपकारकम् । भगवति हि विहरति सुभिक्षा-रोग्यादिना सर्वे जन्तवः स्वस्थाः भवन्ति । प्राण्युपघातश्च न स्यात्तथा तदुपदिष्टधर्मानुष्ठानान्निराबाधा भवन्ति । यतः एवं । हे देव इन्द्रादिभिर्दीव्यते स्तूयते इति देवः । ततस्तस्माद्वपुःशान्त-त्वादिति हेतोः । श्रुतज्ञा आगमविदः । संसार एव मारवं मरुदेश-प्रभवं महास्थलं प्राणिनां सन्ततसंताप-हेतुत्वात्तत्र रुंद्रो महान् सान्द्रो घनः छाययोपलक्षितो महीरुहो वृक्षः । यस्य सूर्ये चलत्यपि यस्य छाया निश्चला भवति स छायातरुरिति लोके प्रसिद्धः स तथाभूतो जिनः आमन्त्र्यते । भवन्तं त्वां श्रयन्ते अर्थान्तराद्-व्यावृत्य समन्तात्सेवन्ते ॥२॥

अन्वयार्थं—(देव) हे देव ! (तव) आपका (वपुः) शरीर (शान्तम्) शान्त है, (वचः) वचन (श्रवणहारि) कानोंको प्रिय हैं और (चरित्रम्) चारित्र (सर्वोपकारि) सबका भला करनेवाला है, (ततः) इसलिये (संसारमारवमहास्थलरुन्द्रसान्द्र-च्छायामहीरुह) हे संसाररूप मरुस्थलमें विस्तृत सघन छायावृक्ष (श्रुतज्ञाः) शास्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् (भवन्तम् उपाश्रयन्ते) आपका आश्रय करते हैं ।

भावार्थ—मरुस्थल प्रदेशोंमें छायावाले वृक्ष बहुत कम होते हैं इसलिये मार्गमें रास्तागीरोंको बहुत तकलीफ होती है । वे थके हुए रास्तागीर जब किसी छायादार वृक्षको पाते हैं, तब बड़े खुश होते हैं और उसकी सघन शीतल छाया में बैठकर अपना सब परि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रम भूल जाते हैं। इसी तरह संसाररूप मरुस्थलमें आप जैसे छायादार वृक्षोंकी बहुत कमी है, इसलिये मोक्ष-नगरको जानेवाले पथिक रास्तामें बहुत तकलीफ उठाते हैं। पर जब उन्हें आप जैसे छायादार वृक्षकी प्राप्ति हो जाती है तब वे बहुत ही खुश होते हैं और आपके आश्रयमें बैठकर अपने सब दुःख भूल जाते हैं ॥२॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननीगर्भान्धकूपोदरा-
दद्योद्घाटितदृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षयपदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवरकाननेन्दुममृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम् ॥३॥

नाथ ! आपहैं त्रिजग नयनके, कुमुद विपिन हित चन्द्र अनूप।
सुधा प्रवाहित करती है तब शुभ्र चन्द्रिका कान्ति स्वरूप॥
अतः आपका दर्शन कर मैं, आज गर्भ से हुवा प्रसूत।
आज दृष्टि हो गयी प्रकट औ, आज हुवा है जीवन पूत ॥३॥

टीका—हे स्वामिन् प्रभो ! अद्य इदानीं विनिर्गतो विशेषेण निष्क्रान्तोऽस्मि भवाम्यहं जनन्या मातुर्गर्भं एवान्धकूपो मोहान्धकाराशुचिकृम्यादि व्याप्तत्वात् तस्योदरं मध्यप्रदेशस्तस्मात्। अद्य संप्रति उद्घाटिते उन्मीलिते निरावरणिते वा दृष्टी लोचने यस्य स तथास्मि फलवत् सफलं चरितार्थं जन्म उद्भवो यस्य सोऽस्मि। च समुच्चये। अद्य अधुना स्फुटं निश्चितम्। कुतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदित्याह । यद्यस्मात् । त्वां भवन्तम् अद्राक्षं दृष्टवानहम् । अक्षयपदानन्दाय मोक्षसुखार्थं लोकानां जगतां त्रयी त्रितयी । तस्या नेत्राण्येव इन्दीवरकाननं नीलोत्पलवनं तत्र इन्दुं चन्द्रं विकासहेतुत्वात् । अमृतं स्यन्दते स्रवत्यभीक्ष्ण-मित्यमृतस्यन्दिनी प्रभा चन्द्रिका देहद्युतिर्ज्योत्स्ना यस्य तम् ।।३।।

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ! (यत्) जिस कारण से (अहम्) मैंने (लोकत्रयीनेत्रन्दीवरकाननेन्दुम) त्रिभुवनके जीवोंके नेत्ररूपी कुमुद-वनको विकसित करनेके लिये चन्द्रमारूप तथा (अमृतस्यन्दिप्रभाचन्द्रिकम्) जिनकी कान्तिरूपी चाँदनी अमृतको प्रवाहित करती है ऐसे (त्वाम्) आपको (अक्षयपदानन्दाय) अविनाशी पदके आनन्दके लिये (अद्राक्षम्) देखा-अर्थात् आपके दर्शन किये, (तत्) उस कारण से (स्पष्टम्) स्पष्ट है कि (अद्य) आज मैं (जननीगर्भान्धकूपोदरात्) माताके गर्भरूप अंधेरे कुएँसे (विनिर्गतः अस्मि) निकला हूं, (अद्य उद्घाटितदृष्टिः अस्मि) आज प्रगट हुई दृष्टि जिसकी ऐसा हुआ हूँ (च) और (अद्य फलवज्जन्मा अस्मि) आज सफल जन्म हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन्! आज आपके दर्शन कर मैं समझता हूँ कि आज ही पैदा हुआ हूँ। क्योंकि मेरा अबतकका समय आपके दर्शनके बिना व्यर्थ ही गया। आज ही मेरी दृष्टि खुली है, आजके पहले मानों मैं देखते हुए भी अन्धा था, और आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है ।।३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावलि-
सान्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः।
क्वेयं श्रीः क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः
सर्वज्ञानदृशश्चरित्रमहिमा लोकेश लोकोत्तरः ॥४॥

इन्द्र-किरीटोंके रत्नोंको, दीपावलिसे सघन महान।
सिंहासनके मणिमय दीपोंका, यह विभव कहाँ श्रीमान् ?
और आपकी यह निस्पृहता, कहाँ? अतः हे त्रिभुवन-ईश!
आप सदृशका चरित तर्कका, विषय नहीं है हे जगदीश ॥४॥

टीका—हे लोकेश जगन्नाथ, वर्त्तते कोऽसौ ? चरित्रमहिमा चारित्रमाहात्म्यं। कस्य। त्वादृशो भवादृशस्य। कथंभूतस्य सर्वज्ञानदृशः। केवलज्ञानलोचनस्य। कथंभूतो वर्तते। लोकोत्तरः। जगदतिशायी। किंविशिष्टः सन् ऊहातिगः वितर्कातिक्रान्तः। कथमूहः। इति किमिति। क्व वर्त्तते कासौ ? इयमष्टप्रातिहार्यादिलक्षणा श्रीर्लक्ष्मीः कीदृशी निःशेषाः सर्वे त्रिदशेन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां शेखराणि मुकुटानि तेषां शिखा अग्राणि तेषु माणिक्यप्रदीपावली मणिदीपश्रेणिस्तया सान्द्रीभूता घनीभूता मृगेन्द्रविष्टरस्य सिंहासनस्य तटीषु पार्श्वदेशेषु स्थिता रत्नप्रदीपावलिर्यस्यां ङ्न्मोरिति बसे कप्सांतः प्रदीपावलीति पाठे प्रसज्येत। सेयं श्रीः क्व वर्तते क्व चेदं निःस्पृहत्वं समस्तदेवाधिपत्येऽपि तां श्रियं प्रति सर्वथा निरीहत्वं सुष्टु दुर्घटमिदम्। यदेवम्भूते बलवत्यपि

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागकारणे मनागपि रागो नोत्पद्यते ।। अत्र विषमोनामा लंकार।।४।।

अन्वयार्थ—(निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीपावलीसा न्द्रीभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावलिः) समस्त इन्द्रोंके मुकुटों के अग्र भागपर लगे हुए रत्न-रूप दीपकोंकी पङ्क्तिसे सघन है सिंहासनके तटपर लगे हुए मणिमय दीपकों की पङ्क्ति जिसमें ऐसी (इयम् श्रीः) यह लक्ष्मी (क्व) कहाँ ? (च) और (इदम्) यह (निःस्पृहत्वम्) निःस्पृहता–इच्छाका अभाव (क्व) कहाँ ? (इति) इस प्रकार (लोकेश) हे त्रिभुवनके स्वामिन् ! (त्वादृशः) आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शीकी (लोकोत्तरः) सर्वश्रेष्ठ (चरित्रमहिमा) चारित्रकी महिमा (ऊहातिगः 'अस्ति') तर्कके अगोचर है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप समवसरण रूप लक्ष्मीसे सहित होनेपर भी उसमें स्पृहासे रहित हैं, इससे मालूम होता है आपका चरित्र 'ऐसा क्यों है' ? यह तर्कका विषय नहीं है ।।४।।

राज्यं शासनकारिनाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया
हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा यन्मोहमल्लो जितः ।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत्त्वया
सैषाश्चर्यपरम्परा जिनवर क्वान्यत्र सम्भाव्यते ।।५।।

प्रभो ! आपने सुरपति-सेवित, राज्य दिया तृण जैसा छोड़ ।
अनायास ही त्रिभुवन विजयी, मोह-मल्ल को दिया मरोड़ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लीन किया निज ज्ञान मुकुरके भीतर लोकालोक वितान।
यह विस्मय अन्यत्र कहाँपर, हो सकता है हे धीमान् ॥५॥

टीका—हे जिनवर गणधरदेवादीनां श्रेष्ठ ! क्व त्वद्व्यतिरिक्ते शिवादौ सम्भाव्यते। न क्वापि भवितव्यतया प्रतीयते। कासौ। सा पूर्वोक्ता एषा अनन्तरोक्ता आश्चर्याणां विस्मयनीयानां गुणानां परम्परा सन्ततिः। कोऽसावित्याह। यत्त्यक्तं परिहृतं किं तद्राज्यं राज्ञः पृथ्वीलाभपालनोचितं कर्म केन। त्वया कीदृशं शासनकारिण आज्ञाविधायिनो नाकपतयः इन्द्रा यत्र तच्छासनकारि नाकपति। कया। तृणे इवावज्ञानादरस्तया। अन्यो हि सामान्यमपि वस्तु न त्यक्तुमिच्छति त्यजन् वा शोकादिकं करोति। त्वया तु तादृग् राज्यं तथा त्यक्तमित्याश्चर्यम्। तथा यत्त्वया जितो निगृहीतः कोऽसौ मोहमल्लः। बलवन्मोहनीयकर्म। कथंभूतो हेलया अनायासेन निर्दलितो निर्नाशितस्त्रयाणां लोकानां महिमा माहात्म्यं येन सः। अन्यस्तु जितकतिपय जेतव्यमपि जेतुं न शक्नोतीति विस्मयः। तथा यत् त्वया कृतं प्रकाशितम्। किं तत् लोको जीवादिपदार्थसमुदायः। अलोकः केवलमाकाशं लोकश्चालोकश्च लोकालोकं अपि समुच्चये। क्व कृतां अन्तर्मध्ये कस्य स्वस्यात्मनः सम्बन्धी यो बोधो ज्ञानं स एव मुकुर आदर्शस्तस्य अन्यः पुनः कियदेवं ज्ञेयं जानातीति चित्रम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र; (शासनकारिनाकपति) आज्ञाकारी हैं इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य (यत्) जो (त्वया) आपके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा (तृणावज्ञया) तृण जैसी अनादर बुद्धिसे (त्यक्तम्) छोड़ दिया गया है, (हेलानिर्दलितत्रिलोकमहिमा) अनायास ही खण्डित कर दी है तीन लोकके जीवोंकी महिमा जिसनें ऐसा (मोहमल्लः) मोहरूपी मल्ल (यत्) जो (जितः) जीता गया है तथा (यत्) जो (लोकालोकम् अपि) लोक अलोकका समाहार-समूह भी (स्वबोधमुकुरस्य अन्तः कृतम्) अपने ज्ञानरूप दर्पणके भीतर किया गया है, सो (एषा सा आश्चर्यपरम्परा) यह प्रसिद्ध आश्चर्य परिपाटी (अन्यत्र क्व) आपको छोड़कर दूसरी जगह कहाँ (संभाव्यते) संभव हो सकती है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपने विशाल राज्यको तृणके समान तुच्छ समझकर छोड़ दिया, आपने त्रिलोक-विजयी मोहमल्लको जीत लिया और आपने लोक अलोकका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह विशेषता आपको छोड़कर अन्य मत सम्बन्धी देवोंमें नहीं हो सकती ॥५॥

दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बह्व्यः कृताः।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं निज येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम् ॥६॥

जिनवर! जिस श्रद्धालु जीवने, किया आपका पावन दर्श।
उसने ज्ञानी व्रती पात्रके, लिये दान दे लिया सहर्ष ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कठिन तपस्या संचय कर ली, की पूजाएँ भी अवदात।
एवं निर्मल गुणों सहित ही पाये शील व्रत भी सात ॥६॥

टीका—हे जिन रागादीनां जेतः हे दृष्टिसुभग ! नेत्रवल्लभ! येन भव्येन त्वं दृष्टः स्वात्मन्युपलब्धः। किंविशिष्टेन श्रद्धापरेण रुचिप्रधानेन कियन्तं कालं क्षणं अल्पकालं तेन किं कृतमित्याह। दत्तं किं तद्दानं कस्मै पात्राय कथंभूताय। ज्ञानमेव धनं यस्य तस्मै पुनः कथंभूताय सद्वृत्तये सदाचाराय कथं दत्तं। असकृद-नेकवार तथा तेन चीर्णानि चरितानि कानि उग्रतपांसि तीव्राण्य-नशनादीनि इन्द्रियमनोनियमानुष्ठानानि कथं सुचिरं बहुतरकालं तथा तेन कृताः काः पूजाः किंविशिष्टाः। बह्वो विपुला महाक-ल्पवृक्षादयः प्रचुरा वा तथा तेन समासादितः सम्प्राप्तः। कोऽसौ निचयःसघातः केषां शीलानां व्रतपरिरक्षणभूतानां शुचिचरितानां कथं सह कैः अमलगुणैः अष्टादशशीलसहस्त्राणि चतुरशीतिश्च गुणलक्षास्तेन संप्राप्ता इत्यर्थः ॥६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (दृष्टिसुभगः) आँखोंको प्यारे लगनेवाले (त्वम्) आप (येन श्रद्धापरेण) जिस श्रद्धालुके द्वारा (क्षणम्) एक क्षणभर भी (दृष्टः) देखे गये हो मानो (तेन) उसने (ज्ञानधनाय) ज्ञान ही है धन जिसका ऐसे तथा (सद्-वृत्तये) सदाचारी (पात्राय) पात्रके लिये (असकृत्) कईबार (दानम्) दान (दत्तम्) दिया है, (उग्रतपांसि चीर्णानि) कठिन तपस्याओंका संचय किया है, (सुचिरम्) चिरकालतक (बह्वः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजाः कृताः) अनेकपूजाएँ की है और (अमलगुणैः सह) निर्मल गुणोंके साथ (शीलानां सर्वः निचयः समासादितः) शीलव्रतोंका सब समूह प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक आपके दर्शन करता है, उसे पात्र दान करने, तप आचरने, पूजा करने तथा शीलव्रत धारण करनेका फल लगता है ॥६॥

प्रज्ञापारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुत—
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम्।
नीयन्ते जिन येन कर्णहृदयालङ्कारतां त्वद्गुणाः
संसाराहिविषाप हारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणे: ॥७॥

त्रिभुवन-चूड़ामणे! आप जग-अहि-विष-हारक मणि निर्दोष।
जो तव गुणसे कर्ण हृदयको, भूषित कर करता सन्तोष॥
वही बुद्धि पारंगत प्रभु वह शास्त्र सिन्धुका अन्तिम पार।
वह ही है गुण-रत्न विभूषित, वही प्रशंसापात्र उदार ॥७॥

टीका—हे जिन! हे त्रैलोक्यचूडामणे जगत्त्रयशिरोरत्न! इतो गतः। कोऽसौ। स एव भव्यः किं तत्। प्रज्ञाया ऊहापोहात्मिकाया बुद्धेः पारं परभागं परं प्रकर्षमित्यर्थः तथा गतवान् गतः कोऽसौ स एव किं तत् पारं। कस्य श्रुतस्कन्धाब्धेः श्रुतस्कन्ध एव अब्धिः समुद्रस्तस्य। पुनरपि किंविशिष्टः। श्लाघ्यः स्तुत्यः इदं। इति किमिति। वर्तते कोऽसौ अयं पुरुषः। किंविशिष्टो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणरत्नभूषणो गुणा एव रत्नभूषणानि यस्येति गुणरत्नभूषणः। येन नीयन्ते प्राप्यन्ते के ते त्वद्गुणाः। कां कर्णहृदयालंकारतां कर्णौ च हृदयञ्च कर्णहृदयं तस्य भूषणभावम्। येन त्वद्गुणैः कर्णौ च हृदयं च संस्क्रियन्ते स एव प्रज्ञाद्यतिशयवान्। अयमभिप्रायः। प्रज्ञाद्यतिशयं लब्ध्वापि परमात्मनो गुणा एव श्रोतव्याः स्मर्त्तव्याश्च येन तु ते श्रूयन्ते स्मर्यन्ते च तेन प्रज्ञाद्यतिशयः प्राप्त एव तत्साध्यस्य सिद्धत्वात्। किंविशिष्टास्त्वद्गुणाः संसारा हि विषापहारमणयः संसार एव अहिः सर्पस्तस्य विष गरलं तदपहारे मणयः ॥७॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यचूडामणे ! जिन !) हे त्रिभुवनके चूडामणि स्वरूप ! जिनेन्द्रदेव ! (संहाराहिविषापहारमणयः) संसार रूपी साँपके विषको हरने के लिए मणि स्वरूप (तद्गुणाः) आपके गुण (येन) जिसके द्वारा (कर्णहृदयालंकारताम्) कान तथा मनके आभूषणपनेको (नीयन्ते) प्राप्त कराये जाते हैं (ध्रुवम्) निश्चयसे (सः एव) वही (प्रज्ञापारम् इतः) बुद्धिके पारको प्राप्त हुआ (भगवान्) भगवान्–ऐश्वर्यवान् हैं (सः एव श्रुतस्कन्धाब्धेः पारम्) वही शास्त्र-समुद्रका अन्तिम तट है और (सः एव) वही (गुणरत्न-भूषणः) गुणरूपी रत्न ही हैं आभूषण जिसके (इति) इस तरह (श्लाघ्यः) प्रशंसनीय है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो आपके गुणोंको सुनकर हृदयमें धारण करता है वही बुद्धिमान्, ऐश्वर्यवान, ज्ञानवान और गुणरूपी रत्नोंसे भूषित होता है ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालिनी छन्द

जयति दिविजवृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि-
निचयरुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।
जिनपतिरनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मी-
युवतिनवकटाक्षक्षेपलीलां दधानैः ॥८॥

सुर समूहके द्वारा चालित, उज्ज्वल-शशि सम ही छविमान ।
औ' अनुरक्त मुक्ति-श्री युवतीके कटाक्षसे शोभावान ॥
उन्नत चँवरों द्वारा ढोले जानेवाले हे जिनराज ।
हैं जयवन्त आप ही जगमें, मान रहा यह विज्ञ समाज ॥८॥

टीका—जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते कोऽसौ जिनपतिः किं क्रियमाणः वीज्यमानः । परमैश्वर्यलीलां नीयमानः । कैश्चामरैः-वालव्यजनैः । किंविशिष्टैः । दिविजवृन्दान्दोलितैः । दिविजानां देवानां वृन्दः समुदायस्तेनान्दोलितैरितस्ततश्चालितैः । पुनरपि किंविशिष्टैः ? इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः । इन्दोश्चन्द्रस्य रोचींषि किरणास्तेषां निचयः संघातस्तद्वद्रुचिः क्रान्तिर्येषान्तैः । किंकुर्वाणैश्चामरैः । दधानैर्धारयद्भिः । कां अनुरज्यन्ती क्षणे क्षणे निकटी भवन्ती सा चासौ मुक्तसाम्राज्यस्य परममुक्तेर्लक्ष्मीः श्रीसम्यक्त्वाद्यष्टगुणसंपत्तिः सैव युवतिस्तरुणी तस्या नवा प्रत्यग्रास्ते च ते कटाक्षक्षेपाश्च नयनान्तनिरीक्षणानि तेषां लीला वैदग्धी तां कथंभूतो जिनपतिः । उच्चैः उन्नतपदाधिरूढः ॥८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(दिविजवृन्दान्दोलितैः) देवसमूहके द्वारा संचालित, (इन्दुरोचिर्निचयरुचिभिः) चन्द्रमाकी किरण-समूहके समान उज्ज्वल कान्तिके धारी तथा (अनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्य-लक्ष्मीयुवतिकटाक्षक्षेपलीलाम् दधानैः) अनुराग करनेवाली मोक्षनगरकीराज्यलक्ष्मी रूप तरुण स्त्रीके कटाक्ष-सचारकी शोभाको धारण किये हुए (उच्चैः) उन्नत (चामरैः) चँवरोंके द्वारा (वीज्यमानः) ढोले जानेवाले (जिनपतिः) जिनेन्द्र भगवान् (जयति) जयवन्त हैं—सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके दोनों ओर देवगण जो सफेद चँवर ढोर रहे हैं, वे चँवर आपमें आसक्त हुई मुक्तिकी राज्य-लक्ष्मीरूप स्त्रीके सफेद कटाक्षोंकी तरह शोभायमान होते हैं। उन चँवरोंसे आप संसार में सर्वश्रेष्ठ मालूम होते हैं ॥८॥

स्रग्धरा छन्द

देवः श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषा-
पुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः ।
साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली
पायान्नः पादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिर्जिनेन्द्रः ॥९॥

जो कि छत्र, चामर, अशोक, भा-मण्डल दिव्यध्वनि अभिराम।
पुष्पवृष्टि, सिंहासन, दुन्दुभि, प्रातिहार्यंसे शोभा-धाम ॥
सुर-नर-सभा-कमलिनीके रवि, एवं जगके सभी नरेन्द्र।
जिन्हें नवाते शीश, करें हम सबकी रक्षा वही जिनेन्द्र ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—पायात् संसारदु:खाद् रक्ष्यात् । कोऽसौ देवः । कान् । नः अस्मान् को देव: जिनेन्द्रः किंविशिष्टः। पादयो पीठं न्यासार्थमासनं पादपीठं कृताः । प्रणामकाले पादयोरधस्ताद्वृत्तिसंभवान् सकलानां जगत्पालानामिन्द्रादीनां मौलयो मुकुटानि येन स तथोक्तः । पुनः किंविशिष्टः ? सुराश्चतुर्णिकाया देवा मनुजा मनुष्यास्तेषां सभा परिषत्सैवाम्भोजिनी कमलिनी तस्यां भानुमाली सूर्यः विकासकत्वात् किंकुर्वाणो भगवान् । भ्राजमानः शोभमानः । कैः प्रातिहार्यैरापन्निवारणोपायैः आपद्दूरेऽपि भगवति भक्तिवशाद्देवेन्द्रेण कल्पितैः कैस्तैरित्याह । श्वेतातपत्रत्रयं सितम् छत्रत्रितयं चमरिरुहाणि चामराणि अशोकः पिंडीद्रुमः, भाश्चक्रं देहद्युतिपटलं भाषा वाणी पुष्पाणामोघः समूहस्तस्यासारो धारासंपातः पुष्पवृष्टिरिति यावत् सिंहासनंहरिविष्टरं सुरपटहो दुन्दुभिस्तैः किंविशिष्टैः । साश्चर्यैरद्भुतैः ॥६॥

अन्वयार्थ—(साश्चर्यैः) आश्चर्ययुक्त (श्वेतातपत्रत्रयचमरिरुहाशोकभाश्चक्रभाषापुष्पौघासारसिंहासनसुरपटहैः) सफेद छत्रत्रय, चँवर, अशोकवृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्प-समूहकी वृष्टि, सिंहासन और देवदुन्दुभिरूप (अष्टभिः प्रातिहार्यैः) आठ प्रतिहार्योंके द्वारा (भ्राजमानः) शोभायमान (सुरमनुजसभाम्भोजिनीभानुमाली) देव और मनुष्योंकी सभाको विकसित करनेके लिये सूर्य तथा (पादपीठीकृतसकलजगत्पालमौलिः) जिन्होंने सब राजाओंके मुकुटोंको अपने पांवोंका पीठ-आसन बनाया है ऐसे (जिनेन्द्रः) जिनेंद्रदेव (नः पायात्) हम सबकी रक्षा करें ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जो आठ प्रातिहार्योंसे शोभायमान हैं. जो मनुष्य और देवोंकी सभाको हर्षित करते हैं तथा जिनके चरणोंमें जग के सब राजा अपना मस्तक झुकाते हैं वे जिनेन्द्रदेव हमारी रक्षा करें ॥९॥

नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः
सद्यस्त्रैलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः।
हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोद्दामरम्यामरस्त्री-
काम्यः कल्याणपूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते ॥१०॥

देव ! आपकी शुभ कल्याणकविधि में करते नृत्य ललाम।
सुर-गज के दन्तोंपर नर्तित, सुर-वधुओं से शोभाधाम॥
त्रिभुवन-यात्रा-उत्सव-ध्वनि से, मुदित सुरोंसे और ज्वलन्त।
सुर सुन्दरियों द्वारा सुन्दर, व॰ देवागम है जयवन्त ॥१०॥

टीका—हे देव ! विजयते कोऽसौ देवागमः। देवानामिन्द्राद्यमराणामागमनं केषु कल्याणषु गर्भावतारणादिमहोत्सवेषु ये पूजाविधयस्तेषु कस्य सम्बन्धिषु ते तव किंविशिष्टः नृत्यंश्चासौ स्वर्दन्ती च ऐरावतस्तस्य दन्तास्तेषु अम्बुरुहवनानि कमलषण्डानि तेषु नटन्तो नृत्यन्तो नाकनारीनिकाया देवङ्गनागणा यत्र स तथोक्तः। पुनः किंविशिष्टः सद्यस्तत्काल एव त्रैलोक्यस्य यात्रोत्सवं गमनोद्धर्षं करोति स तथाभूतो निनदो नादो येषां तानि तथाभूतानि निनदानि आतोद्यानि ततविततघनसुषिरवाद्यानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तैर्माद्यन्तो हृष्यन्तो निलिम्पा देव यत्र। पुनरपि किंविशिष्टः। हस्ताम्भोजातेषु वरकमलेषु लीलया वैदग्ध्या विनिहितानि विशेषेण न्यस्तानि। सुमनसां पुष्पाणां दामानि मालास्तै रम्या मनोहरा अमरस्त्रियो देव्यस्ताभिः काम्यः स्पृहणीयः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (ते) आपके (कल्याणपूजा-(विधिषु) पञ्चकल्याणकोंके पूजा कार्यमें, (नृत्यत्स्वर्दन्तिदन्ताम्बुरुहवननटन्नाकनारीनिकायः) नृत्य करते हुए ऐरावत हाथीके दाँतोंपर स्थित कमल-वनमें नृत्य कर रहा है देवाङ्गनाओंका समूह जिसमें ऐसा, (सद्य) शीघ्र ही (त्रलोक्ययात्रोत्सवकरनिनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः) त्रिभुवन में यात्राके उत्सवको करनेवाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजोंसे हर्षित हो रहे हैं देव जिसमें ऐसा, तथा (हस्ताम्भोजातलीलाविनिहितसुमनोदामरम्यामरस्त्रीकाम्यः) हस्तकमलोंके द्वारा क्रीड़ापूर्वक धारण की गई फलोंकी मालाओंसे रमणीय देवियोंके द्वारा सुन्दर (देवागमः) देवागम (विजयते) जयवन्त है—सर्वोत्कृष्ट है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके कल्याणकोंमें जो देवोंका आगमन होता है, वह संसार में सबसे उत्कृष्ट है—उसकी जय होव ॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृतस्यन्दिनं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसादसुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम् ।
तेनालोकयता मयाऽनतिचिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं
द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥११॥

देव ! दृगों में अमृत-वर्षक, अति प्रसाद से शोभावान ।
तेज-अलंकृत तव मुख-शशि का दर्शन कर मैंने भगवान ॥
सर्वोत्तम द्रष्टव्य वस्तु का दर्शन कर दृग किये पवित्र ।
अतः विश्व में मैं ही हूँ अब नेत्रवान हे त्रिभुवन-मित्र ॥११॥

टीका—हे देव ! भवामि । कोऽसौ ? अहमेव कीदृशः चक्षुष्मान् नेत्रयुक्तः क्व भुवने जगति येन कारणेन मया कृतार्थीकृतम् । अकृतार्थं कृतार्थं कृतं कृतार्थीकृतं चरितार्थीकृतं किं तच्चक्षुः कस्मादनतिचिरात् अचिरादित्यर्थः । किं कुर्वता मया पश्यता कं त्वद्वक्त्रेन्दु तव मुखचन्द्रं किं विशिष्टं नेत्रामृतस्यंदितं नेत्रयोः प्रेक्षकजनस्य चक्षुषोः पीयूषस्राविणम् । पुनः किंविशिष्टं अतिमात्रप्रसादेन प्रसन्नतया । सुभगै रम्यैस्तेजोभिः प्रभाभिरुद्भासितमुत्कृष्टं प्रकाशितं किंविशिष्टं चक्षुः द्रष्टव्यस्य दर्शनीयस्य वस्तुनोऽवधिः सीमा, त्वद्वक्त्रेन्दुरेवतस्य वीक्षणं विशेषेणावलोकनं तस्य व्यतिकरः प्रघट्टकस्तत्र व्याजृम्भमाण उल्लसन उत्सवो यस्य तत् तथोक्तं ॥११॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (येन) जिस कारणसे (नेतामृतस्यन्दिनम्) आँखोंमें अमृत झरानेवाले तथा (अतिप्रसादसुभगैः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यन्त प्रसन्नतासे सुन्दर (तेजोभिः) तेजके द्वारा (उद्भासितम्) शोभायमान (त्वद्वक्त्रेन्दुम्) आपके मुखचन्द्रको (आलोकयता) देखते हुए (मया) मैंने (द्रष्टव्यावधिवीक्षणव्यतिकरव्याजृम्भमाणोत्सवम्) दर्शनीय वस्तुओंकी सीमाके देखनेरूप व्यापारसे बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी (चक्षुः) आँखोंको (अनतिचिरात्) शीघ्र ही (कृतार्थीकृतम्) कृतार्थ किया है (तेन) उस कारणसे (भुवने) संसारमें (अहम् एव) मैं ही (चक्षुष्मान् 'अस्मि') नेत्रवान् हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! जिन्होंने आपके दर्शन किये हैं, संसारमें उन्हींके नेत्र सफल हैं—वे ही नेत्रवान् कहलाते हैं ॥११॥

वसन्ततिलका

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चि-
न्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम्।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज! मल्लः ॥१२॥

जिनवर! कोई मुग्ध कामिनीके कटाक्षके द्वारा विद्ध।
हरि, हर, ब्रह्माको ही कहते, काम-विजेता मल्ल प्रसिद्ध ॥
किन्तु आपने विफल किये, सुर-वधुओं के दृग-बाण-प्रहार।
अतः आपको ही है, मन्मथ-जयी कहानेका अधिकार ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—अवैति जानाति । कोऽसौ ? कश्चित् कोऽपि मुग्धो मन्दमतिकः सकान्तमपि कान्तायुक्तमपि मुकुन्दं विष्णुम् । अरविन्दजं ब्रह्माणम् इन्दुमौलिं शम्भुं त्रयमपि किंविशिष्टमवैति? कन्तोः कामस्य मल्लं प्रत्यनीकं न चैवं कुत एतदित्याहयतो हि हे जिनराजमल्ल ! तस्य कन्तोस्त्वमेव विजयो विजेता न मुकुन्दादिः मुकुं मोक्षं द्यति खण्डयतीति मुकुन्दस्त मुकुं किं विशिष्टस्त्वं मोघीकृता विफलीकृतास्त्रिदशयोषितां देवीनामपाङ्गपाता नयनान्तक्षेपा येन स तथोक्तः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(जिनराज) हे जिनेन्द्र ! (कश्चित मुग्धः) कोई मूर्ख (कन्तोः) कामदेवके विषयमें (मुकुन्दम्) श्रीकृष्ण (अरविन्दजम्) ब्रह्मा और (इन्दुमौलिम्) महादेवको (सकान्तम् अपि) स्त्रियोंसे सहित होनेपर भी (मल्लम्) मल्ल (अवति) मानता है। किन्तु (मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातः) व्यर्थ कर दिया है देवांगनाओंका कटाक्षपात जिनने एसे (त्वम् एव) आप ही (तस्य) उस कामके (विजयो) जीतनेवाले (मल्लः) शूरवीर हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि श्रीविष्णुने कामको जीता था, कोई कहते हैं कि ब्रह्माने जीता था और कोई कहते हैं कि महादेवने जीता था, पर उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि ये तीनों ही देवता देव अवस्थामें स्त्रियोंसे सहित थे। जो कामको जीत लेता है-काम-विकारसे रहित होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, उसे स्त्री रखनेकी क्या आवश्यकता ? परन्तु आपके ऊपर मनुष्य-स्त्रियोंकी क्या बात, देवांगनाएँ भी अपना असर नहीं डाल सकीं इसलिए कामदेवके सच्चे विजेता आप ही हैं ॥१२॥

मालिनी छन्द

किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्

कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीपप्रयाणात् ।

मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं

नयनपथमवाप्ताद् देव ! पुण्यद्रुमेण ॥१३॥

तव दर्शनकी इच्छासे ही, मेरे पुण्य-विटपमें आप्त ।
पल्लव निकले, निकट-गमनसे हुई सघन सुमनावलि व्याप्त ॥
और आपके मुख-शशि-दर्शनसे इस समय लगे फल ईश ।
अतः आपका पावन दर्शन, पुण्य हेतु है हे योगीश ॥१३॥

टीका—हे देव ! मम संबन्धिना पुण्यद्रुमेण सुकृतवृक्षरण किसलयित सपल्लवेन जातं कथं ? अनल्पं बहु । कस्मात् ? त्वद्विलोकाभिलाषात् तव दर्शनवाञ्छात: । तथा कुसुमितं सपुष्पेरण जातम् अतिसान्द्रं अतिघनं कस्मात् त्वत्समीपप्रयाणात् तव निकटदेशगमनात् तथा फलितं सफलेन जातम् । अमन्दं प्रचुरं यथाभवति । कस्मात् त्वन्मुखेन्दोस्त्वन्मुखचन्द्रात् इदानीं सप्रति नयनपथं नेत्रमार्गमवाप्तात् प्राप्तात दृष्टादित्यर्थः ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(देव) हे देव ! (मम) मेरा (पुण्यद्रुमेण) पुण्यरूपी वृक्ष, (त्वद्विलोकाभिलाषात्) आपके दर्शन करनेकी इच्छासे (अनल्पम्) अत्यधिक (किसलयितम्) पल्लवोंसे व्याप्त हुआ था, (त्वत्समोपप्रयाणात्) आपके पास जानेसे (अतिसान्द्रम्) अतिसघन (कुसुमितम्) फूलोंसे व्याप्त हुआ और (इदानीम्) इस समय (त्वन्मुखेन्दोः) आपके मुख-चन्द्रमासे (अमन्दम्) अत्यन्त (फलितम्) फलोंसे व्याप्त हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके दर्शन करनेकी इच्छासे पुण्य रूपी वृक्ष लहलहा उठता है। आपके पास जानेसे उसमें फूल लग जाते हैं और आपका साक्षात् दर्शन पा लेने पर उसमें फल लग जाते हैं। आपका दर्शन अत्यन्त पुण्यका कारण है ॥१३॥

त्रिभुवनवनपुष्प्यत्पुष्पकोदण्डदर्प-
प्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः ।
स जयति जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः
शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः ॥१४॥

त्रिभुवन-वनमें व्याप्त मदनके, मदके दावानलका ताप।
निज उपदेशामृतकी वर्षासे, शीतल कर देते आप॥
तथा सुराधिप रूप शिखीके, नर्तनमें भी निस्सन्देह।
सबसे श्रेष्ठ आपही, आग्रहकारी बन्धु स्वरूपी मेह ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका—जयति कोऽसौ ? स प्रसिद्धः जिनानां गणधरदेवादीनां राजानोऽधिपतयो जिनेन्द्रास्तेषां व्रातः संघातः सोऽयं जीमूतानां मेघानां संघः। जीमूतसंघ इव जीमूतसंघः उपमानोपमा। सोऽयं किंविशिष्टः त्रिभुवनमेव वनं तत्र पुष्पन्वर्द्धमानः पुष्पकोदण्डस्य कामस्य दर्पप्रसरो मदोद्रेकः स एव दवो दवाग्निस्तत्र नवाम्भोमुक्तिः नूतनजलवृष्टिः। सूक्तीनां दृष्टेष्टाविरुद्धवाचां प्रसूतिः प्रादुर्भावो यस्मात् पुनः किंविशिष्टः ? शतमख इंद्रः स एव शिखी मयूरस्तस्य नृत्यारम्भो नटनोपक्रमस्तस्य निर्बन्ध आग्रहस्तत्र बन्धुः सहायः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनवनपुष्प्वंत्पुष्प्यकोदण्डदर्पप्रसरदवनवाम्भोमुक्तिसूक्तिप्रसूतिः) तीन लोकरूपी वनमें बढ़ते हुए कामदेवसम्बन्धी अहंकारके प्रसाररूपी दावानलको बुझानेके लिए नूतन जलवृष्टिरूप सुन्दर उपदेश की है उत्पत्ति जिससे ऐसे, तथा (शतमखशिखिनृत्यारम्भनिर्बन्धबन्धुः) इन्द्ररूपी मयूरके नृत्य प्रारम्भ करनेमें आग्रहकारी बन्धुस्वरूप (सः) वह (जिनराजव्रातजीमूतसङ्घः) जिनेन्द्र समूहरूप मेघोंका समुदाय (जयति) जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—जिनका उपदेश काम अग्नि को नष्ट करने के लिये जल-धारा के समान है और जिनके सामने स्वर्ग का इन्द्र मनोहर नृत्य करता है वे जिनेन्द्र देव संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमाला-
लीलाचैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य ।
उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलास्त्रिः परीत्य
श्रीपादच्छाययापच्छिदभवदवथुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम् ॥

चक्री इन्द्र प्रमुख नर सुरके, नयन-भ्रमरके लीलाधाम ।
चैत्यवृक्ष औ अखिल जगतके कुमुद वर्गको शशि अभिराम ॥
जिनमन्दिरकी त्रय-प्रदक्षिणा दे कर-युगल जोड़ सानन्द ।
तव श्री-पदसे विगत-ताप हो पाया मैंने शिव-आनन्द ॥१५॥

टीका—अस्मि भवामि कोऽसौ अहं किंविशिष्टः । मुक्ति-संश्रित इव किं विशिष्टः सन् अपच्छिदः समन्ताच्छिन्नोऽभवदवथुः संसारपरितापो यस्य मम सोऽहं तथोक्तः । कया श्रीपादच्छायया श्रीपादयोः कान्तिमच्चरणयोः छाया आश्रयः तया तथा च लोको वदति । युष्मदीयच्छत्रच्छायायामहं तिष्ठामि । त्वामाश्रितोऽस्मीत्यर्थः । कस्यैषा ? जिनस्य । किं कृत्वा ? परीत्य । प्रदक्षिणीकृत्य । कं चैत्यालय कस्य जिनस्य । कथं त्रिः त्रीन् वारान् किंविशिष्टः सन् । उत्तंसीभूत सेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलः उत्तंसीभूतो ललाटतटनिवेशितत्वाच्छेखरीभूतः सेवाञ्जलिपुट एव नलिनीकुड्मलः पद्मिनीमुकुलो यस्य स तथोक्तः । किंविशिष्टस्य ? जिनस्य भूपालेत्यादि । भूपाला राजानः स्वर्गपाला इन्द्रास्ते यथाक्रमं प्रमुखाः पुरस्सरा यासां ताश्च तान् सुरश्रेणयश्च तासां नेत्राणि तान्येवालयो भ्रमरास्तेषां माला लीलाचैत्यं मालानां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माल्यानां गुंफितपुष्पाणां लीला चैत्यं लीलया रचितमायतनं पुष्पगृहमिति यावत् । तस्य पुनः किंविशिष्टस्य ? अखिलानां सर्वेषां जगतां लोकानां कौमुदीन्दोः कार्त्तिकीचन्द्रस्य ॥१५॥

अन्वयार्थ—(भूपालस्वर्गपालप्रमुखनरसुरश्रेणिनेत्रालिमालालीलाचैत्यस्य) चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें, ऐसे मनुष्य और देवसमूहके नेत्ररूपी भ्रमर-पंक्तिकी क्रीड़ाके लिये चैत्यवृक्ष तथा (अखिलजगत्कौमुदीन्दोः) सम्पूर्ण संसाररूप कुमुद समूहके लिये चन्द्रमा स्वरूप (जिनस्य) जिनेन्द्र देवके (चैत्यालयं त्रिः परीत्य) मंदिरकी तीन प्रदक्षिणा देकर (उत्तंसीभूतसेवाञ्जलिपुटनलिनीकुड्मलः) आभरणरूप किया है सेवासे वह अञ्जलिपुटरूप कमलिनीके मुकुल (बौंडी-कली) जिसने ऐसा तथा (श्रीपादच्छायया) आपके श्रीचरणकी छायाके द्वारा (अपच्छिदभवदवथुः) दूर हो गया है संसार का सन्ताप जिसका ऐसा मैं (मुक्तिम् इव संश्रितः अस्मि) मानो मुक्तिको ही प्राप्त हो गया हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके मन्दिरकी तीन परिक्रमा देकर जब आपके चरणोंके समीप हाथ जोड़कर बैठता हूं, तब मुझे जो आनन्द होता है उसमें मैं समझने लगता हूं कि मैं अब मुक्तिको ही प्राप्त हो गया हूं ॥१५॥

वसन्ततिलका छन्द

देव त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणेऽस्मि-
न्नर्घ्ये निसर्गरुचिरे चिरदृष्टवक्त्रः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीकीर्तिकान्तिधृतिसङ्गमकारणानि
भव्यो न कानि लभते शुभमङ्गलानि ॥१६॥

प्रभो ! पूज्य श्री स्वतः रुचिर तव नख दर्पणमें बारम्बार।
स्वमुख देखकर भव्यजीव श्री-कीर्ति-कान्ति धृतिके आगार॥
किन शुभ मङ्गलमयी प्रसङ्गोंको न प्राप्त होता स्वयमेव।
कहनेका सारांश कि वह सब शुभ मङ्गल पाता है देव ॥१६॥

टीका—हे देव ! भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवः कानि शुभमङ्गलानि न लभते सर्वाण्यपि लभते एव। मङ्गं पुण्यं सुखं वा लान्तीतिमं पापं वा गालयन्तीति मंगलानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणीत्यर्थः। शुभानि प्रशस्तानि त्रिजगत्युपकारकत्वात्। यदि वा शुभमङ्गलानि गर्भावतारणादिकल्याणानि किंविशिष्टानि श्रीर्लक्ष्मीः कीर्तिर्यशः कान्तिर्लावण्यं धृतिः संतोषस्तासां संगमः संप्राप्तिस्तस्य कारणानि किंविशिष्टः सन् भव्यश्चिरं दीर्घकालं दृष्टं प्रेक्षितं वक्त्रं मुखं येन स चिरदृष्टवक्त्रः। क्व तदंघ्रिनखमण्डलदर्पणे भवच्चरणनखतलादर्शे। अस्मिन् प्रत्यक्षे किंविशिष्टे अर्घ्ये पूजाविशेषार्हे पुनः किंविशिष्टे निसर्गरुचिरे स्वभावभासुरे ॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (अर्घ्ये) प्रशंसनीय और (निसर्गरुचिरे) स्वभावसे सुन्दर (अस्मिन् त्वदङ्घ्रिनखमण्डलदर्पणे) आपके इस नखमण्डलरूपी दर्पणमें (चिरदृष्टवक्त्रः) बहुत समयतक देखा है मुख जिसने ऐसा (भव्यः) भव्यजीव (श्रीकीर्ति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कांतिधृतिसंगमकारणानि) लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरज की प्राप्तिके कारण स्वरूप (कानि शुभमङ्गलानि) किन शुभ मङ्गलों को (न लभते) नहीं प्राप्त होता ? अर्थात् सभी को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - हे भगवन् ! जो भव्य आपके नखमण्डलरूपी दर्पणमें अपना मुँह देखता है—अर्थात् आपके चरणोंमें नमस्कार करता है, वह हरएक तरहके मङ्गलोंको प्राप्त होता है । लोकमें दर्पणमें मुँह देखना मङ्गलका कारण माना जाता है ॥१६॥

जयति सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः
कुलधरणिधरोऽयं जैनचैत्याभिरामः ।
प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवाल-
प्रसरशिखरशुम्भत्केतनः श्रीनिकेतः ॥१७॥

सुर-नरकी श्री-रूप सुधाके अमृत-झरनोंसे अभिराम ।
अतिशय फलयुत धर्मवृक्षके अग्रभाग पर लगी ललाम ॥
किसलय दलके शिखर सदृश ही शोभित ध्वजसे श्रीगृहरूप ।
यह जिनेन्द्रका मन्दिर जगमें सबसे उत्तम और अनूप ॥१७॥

टीका—जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । कोऽसौ ? अयं श्रीनिकेतः श्रीमदालयः किंविशिष्टः ? जिनानामिमानि जैनानि तानि च तानि चैत्यानि प्रतिमाश्च तैरभिरामो रम्यः । पुनः किंविशिष्टः ? कुलधरणिधरः कुलपर्वतोऽर्थात् हिमवान् । कस्याः ? सुराश्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नराश्च सुरनरास्तेषामिन्द्रास्तेषां श्रीः सैव सुधानिर्झरिणी अमृत-नदी गङ्गा तस्याः । तत्प्रभवहेतुत्वात् पुनः किंविशिष्टः प्रविपुले-त्यादि प्रविपुलानि अतिमहान्ति फलानि यस्य स प्रविपुलफलः स चासौ धर्मानोकहः पुण्यवृक्षश्च तस्याग्रं शिखरं तत्र प्रवालसरः किसलयविस्तारः प्रेक्षमाणभव्यजनानामत्यन्तचित्तप्रसादहेतुतया सद्यः सुखजनकत्वात् स इव शिखरे अग्रे शुम्भन्ति शोभमानानि केतनानि ध्वजा यस्य स तथोक्तः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(सुरनरेन्द्रश्रीसुधानिर्झरिण्याः) देवेन्द्र और राजाओंकी लक्ष्मीरूप अमृतके झरनोंकी उत्पत्तिके लिये (कुलधर-णिधरः) कुलाचल, तथा (प्रविपुलफलधर्मानोकहाग्रप्रवालप्रसर-शिखरशुम्भत्केतनः) अत्यधिक फलवाले धर्मरूप वृक्षके अग्रभाग पर स्थित किसलयसमूहकी शिखर ही है शोभायमान पताका जिसपर ऐसा तथा (श्रीनिकेतः) लक्ष्मीके गृहस्वरूप (अयम्) यह (जैनचैत्याभिरामः) जिनेन्द्रदेवका चैत्यालय (जयति) जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका वह मन्दिर संसारमें सबसे उत्कृष्ट है, जिसमें भक्तिपूर्वक जानेसे देवेन्द्र तथा राजा-महाराजा-ओंको सम्पत्ति प्राप्त होती है, जिसपर मनोहर पताका फहरा रही है और जो लक्ष्मीका घर है ॥१७॥

विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रांतकांति-
स्फुरितनखमयूखद्योतिताशांतरालः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जो
जयति विजितकर्मारातिजालो जिनेन्द्रः ।१८।।

जिनके नख-शशिमें प्रतिविम्बित होते विनत सुरीके केश ।
जिनके चरण-कमलकी पूजा करते हैं अमरेश नरेश ।।
तथा जिन्होंने कर्म रूप निज अरि की सेना ली है जीत ।
वे जिनेन्द्र हो तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम और पुनीत ।।१८।।

टीका—जयति कोऽसौ ? जिनेन्द्रः किंविशिष्टः ? विजितं निरस्तं कर्मारातीनां मोहादिघातिकर्मशत्रूणां जालं संघातो येन स तथोक्तः । पुनः किंविशिष्टः ? विनमदित्यादि विशेषेण नमन्त्यः प्रह्वीभवन्त्योऽमरकान्ता देवांगनास्तासां कुन्तलाः केशास्तैराक्रांता आश्रितास्ते च कान्तिस्फुरिता द्युतिद्योतितास्ते च ते नखमयूखा नखकिरणाश्च तद्योतितानि आशान्तराणि दिगन्तराणि याभ्यां ते तथोक्ते तथाभूते दिविजमनुजराजव्रातपूज्ये सुरेन्द्रनरेन्द्रवृन्दाभ्यर्च्ये क्रमाब्जे चरणकमले यस्य ।।१८।।

अन्वयार्थ—(विनमदमरकान्ताकुन्तलाक्रान्तकान्तिस्फुरितनखमयूखद्योतिताशान्तरालः) नमस्कार करती हुई देवांगनाओंके केशोंसे प्रतिबिम्बित कांतिसे शोभायमान नखचन्द्रकी किरणोंसे प्रकाशित कर दिया है दिशाओंका मध्यभाग जिनने ऐसे, तथा (दिविजमनुजराजव्रातपूज्यक्रमाब्जः) देव और मनुष्योंके राजसमूह से पूजने योग्य हैं चरणकमल जिनके ऐसे, और (विजितकर्मारातिजालः) जीत लिया है कर्मरूपी शत्रुओंका समूह जिनने ऐसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(जिनेन्द्रः) जिनेन्द्रदेव (जयति) जयवन्त हैं—सर्वोत्कृष्ट रूपसे वर्तमान हैं।

भावार्थ—जिनके चरणोंके नखोंकी कांतिसे दशों दिशाएं प्रकाशमान हैं, जिनके चरणोंकी देवेन्द्र और नरेन्द्र पूजा करते हैं तथा जिन्होंने कर्मोंका क्षय कर दिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव ही सबसे उत्कृष्ट हैं ॥१८॥

वसन्ततिलका छन्द

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥१९॥*

स्वामिन् ! सोकर उठे पुरुषको यदि शुभ मंगलके प्राप्त्यर्थ।
मंगल वस्तु देखनी हो तो अन्य वस्तुएँ सब हैं व्यर्थ ॥
त्रिभुवनके हर मंगलके गृहरूप आपका वदन-मयङ्क।
मात्र देख ले तो हर मंगल प्राप्त उसे होगा निःशङ्क ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (सुप्तोत्थितेन) सोकर उठे हुए (सुमुखेन) सुन्दर मुखवाले पुरुष के द्वारा (सुमंगलाय)

---

* १९ और २० वें श्लोककी संस्कृत टीका हस्तलिखित प्रतिमें छूटी है। मूल प्रति में यह पद्य नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्याणकी प्राप्तिके लिये (यदि मंगलम् एव वस्तु द्रष्टव्यम् अस्ति) यदि मंगलरूप ही वस्तु देखी जानी चाहिये (तत्) तो (अन्येन किम्) औरसे क्या ? (त्रैलोक्यमंगलनिकेतनम्) तीनों लोकोंके मंगलोंके घरस्वरूप (तव वक्त्रम् एव) आपका मुख ही (ईक्षणीयम्) देखना चाहिये ।

भावार्थ—यदि सोकर उठनेके बाद नियमसे किसी मंगल वस्तुको देखना चाहिये ऐसा नियम है तो जिनेन्द्र भगवान्‌के मुखको ही देखिये क्योंकि वह सब मंगलोंका घर है ॥१६॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्वं धर्मोदयतापसाश्रमशुकस्त्वं काव्यबन्धक्रम-
क्रीडानन्दनकोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिकाषट्पदः ।
त्वं पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसस्त्वमुत्तांसकैः
कैर्भूपाल न धार्यसे गुणमणिस्त्रङ्मालिभिर्मौलिभिः ॥

नाथ ! आप धर्मोदय-वन-शुक, आप काव्य-क्रम-क्रीड़ा-रूप ।
नन्दन वनके पिक, सुजनोंकी चर्चा-सरके हंस अनूप ॥
अतः आपको कौन गुणी जन गुण-मणि-मालासे समवेत ।
अपने मञ्जुल मुकुट झुकाकर नमन न करता भक्ति समेत ।२०॥

अन्वयार्थ—(भूपाल) हे जगत्पालक ! (त्वम्) आप (धर्मोदयतापसाश्रमशुकः) धर्मके अभ्युदयरूपी तपोवनके तोता हैं (त्वम्) आप (काव्यबन्धक्रमक्रीडानन्दनकोकिल) काव्यरचनाकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमक्रीडा रूप नन्दनवनके कोकिल हैं । (त्वम्) आप (पुन्नागकथारविन्दसरसीहंसः) श्रेष्ठ पुरुषोंकी कथारूपी कमलसरोवरके हंस हैं और (त्वम्) आप (उत्तंसकैः) अपने आपको भूषित करने-सजानेवाले (कैः) किन पुरुषोंके द्वारा (गुणमणिस्रङ्मालिभिः) गुणरूप मणियोंकी मालाके समूहसे उपलक्षित (मौलिभिः) मुकुटों के द्वारा (न धार्यसे) धारण नहीं किये जाते ? अर्थात् सभीके द्वारा धारण किये जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार तोता तपोवनकी शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार आप भी धर्मके उदयकी शोभा बढ़ाते हैं। जिस प्रकार कोयल अपनी मीठी आवाजसे नन्दनवनकी शोभा बढ़ा देती है उसी प्रकार आप भी अपने चरित्रसे काव्य-रचनाकी शोभा बढ़ा देते हैं । अर्थात् जिस काव्य-रचनामें आपका चरित्र लिखा जाता है, वह बहुत सुन्दर हो जाती है । जिस प्रकार भौंरा मालतीके फूलोंका रसास्वाद करता है, उसीप्रकार आपभी अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मीका रसास्वाद करते हैं । जिसप्रकार हंस कमलों के वनकी शोभा बढ़ाता है उसीतरह आप भी श्रेष्ठ पुरुषोंकी कथाओंकी शोभा बढ़ाते हैं । और जिस प्रकार अपने आपको अलंकृत करनेवाले पुरुष मालाओंसे शोभायमान मुकुटोंको अपने शिरपर धारण करते हैं, उसीप्रकार अपने आपको उत्तम बनाने वाले मनुष्य आपको अपने मस्तकसे धारण करते हैं अर्थात् शिर झुकाकर प्रणाम करते हैं ।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालिनी

शिवसुखमजरश्रीसङ्गमं चाभिलष्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित् ।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त-
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः ।२१।।

कुछ जन चाह मुक्ति सुख एवं देवोंकी लक्ष्मीका संग।
भाँति-भाँतिके दुःख-समूहसे नियमित करते अपने अंग ।।
पर सदैव हम यहां आपके उपदेशोंकी महिमा सोच ।
अनायास ही मोक्ष-स्वर्गको पा लेते हैं निस्सङ्कोच ।।२१।।

टीका—अभिनियमयन्ति समंताद् बन्धन्ति । केचित् पुरुषाः । कं स्वमात्मानं केन क्लेशपाशेन । पंचाग्निसाधनादिबंधनविशेषेण । किं कृत्वा अभिलष्य वाञ्छित्वा किं तत् शिवसुखं मोक्षसौख्यं न केवलं तत् अजरश्रीसगमं च देवलक्ष्मीसंयोगमपि तर्हि यूयं किं कुरुथेत्याह । वयं तु पुनः इह लोके निर्विशामः अनुभवामः । किं तत्तयोः शिवसुखमजरश्रीसंगमयोरुभयमपि द्वयमपि । कथं शश्वत् अनवरतं सतत कया लीलया अनायासेन किं कुर्वन्तः भावयन्तः पुनः पुनश्चेतसि निवेशयन्तः । किं तत् ? तद्वचो वाक्यं कस्य ते तव जिनस्य किंविशिष्टस्य ? भूपतेर्भुवामूर्द्ध्वाधोमध्यलोकानां स्वामिनः ।।२१।।

अन्वयार्थ—(केचित्) कितने ही मनुष्य (शिवसुखम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षसुख (च) और (अजरश्रीसंगमम्) देवोंकी लक्ष्मीके संगमको (अभिलष्य) चाहकर (स्वम् अभि) अपने आपको (क्लेशपाशेन) दुःखोंके समूहसे (नियमयन्ति) नियमित करते हैं—अर्थात् तरह-तरहकी तपस्याओं और व्रत आदि के कठिन नियमों से अपने आपको दुःखी करते हैं (तु) किन्तु (वयम्) हम लोग (शश्वत्) हमेशा (इह) इस संसारमें (ते भूपतेः) आप जगत्पालक के (वचः भावयन्तः) वचनों की भावना करते हुए (लीलया) अनायास ही (तदुभयम् अपि) उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्गको (निर्विशामः) प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मनुष्य आपके सिद्धान्तोंसे परिचित नहीं हैं—वे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिये तरह-तरहके नियम करते हैं—कठिन तपस्याओंके क्लेश उठाते हैं, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, पर हम लोग आपके उपदेशका रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं। आपके वचनों की महिमा अपार है ॥२१॥

शार्दूलविक्रीडित

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवाङ्गना मङ्गला-
न्यापेठुः शरदिन्दुनिर्मलयशो गन्धर्वदेवा जगुः ।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे
तत् किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रोंने अभिषेक किया तव किये देवियोंने शुभ गान।
गन्धर्वोंने गाया लयसे, शरच्चन्द्र सम यश अम्लान ।।
शेष सुरोंने स्वीय नियोगोंके अनुसार किये उपचार ।
अब हम सब क्या करें ? सोच मन चञ्चल होता बारम्बार ।२२।।

टीका—हे देव ! विदधुः कृतवन्तः के देवेन्द्राः सौधर्मादयः । कानि मज्जनानि जन्मकल्याणेऽभिषेकानि कस्य सम्बन्धीनि तव तथा आपेठुः समन्तात् पठन्तिस्म । काः देवांगनाः शचीपुरस्सराः सुरस्त्रियः कानि मंगलानि गानविशेषान् तथा जगुः गायन्तिस्म । के गन्धर्वदेवाः व्यन्तरविशेषाः किं तत् शरदिन्दुनिर्मलयशः शरच्चन्द्रशुभ्रकीर्ति न केवलमेवमेते चक्रुः । शेषाश्चापि अन्येऽपि सुराः चक्रिरे कृतवन्तः, कां सेवां उपास्ति कथं यथानियोग अधिकारानतिक्रमेण किंविशिष्टाः अखिलाः सर्वे यतश्च देवेन्द्रादिभिस्तथा सेवितो भवान् । तत्तस्मात् कारणात् दोलायते दोलेवाचरति इतस्ततश्चलति न क्वचिदवतिष्ठत इत्यर्थः । किं तत् चित्त मनः केषां नः अस्माकं भाक्तिकानां कथम् इति किमिति । मज्जनमंगलपठनसंगायनादीनां मध्ये किं वयं विदध्मः कुर्मः । तुरवधारणे चित्तकमः दोलायत एवेत्यर्थः ।।२२।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (देवेन्द्राः) इन्द्रोंने (तव) स्नापका (मज्जनानि विदधुः) अभिषेक किया, (देवांगनाः मंगलानि आपेठुः) देवांगनाओंने मगल पाठ पढ़े, (गन्धर्वदेवाः) गन्धर्व देवोंने (शरदिन्दुनिर्मलयशः जगुः) शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह उज्वल यश गाया, (च) और (शेषाः अखिलाः सुराः) बाकी बचे हुए समस्त देवोंने (यथानियोगम्) अपने कर्तव्यके अनुसार (सेवाम् चक्रिरे) सेवा की (तत् वयं तु किं विदध्मः) अब हम लोग क्या करें ? (इति) इसप्रकार (नः) हमारा (चित्तम्) मन (दोलायते) चञ्चल हो रहा है।

भावार्थ—हे प्रभो ! करने योग्य जो सेवाएँ थीं उन्हें सब देव-देवियां कर चुकीं, अब हम लोग आपकी कौनसी सेवा करें ? इसतरह हमारा चित्त निरन्तर विचारों के हिंडोले में झूलता रहता है ॥२२॥

देव त्वज्जननाभिषेकसमये रोमाञ्चसत्कञ्चुकै-
र्देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्त्तनविधौ लब्धप्रभावैः स्फुटम् ।
किञ्चान्यत्सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तम-
प्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतमहो तत्केन संवर्ण्यते ।२३॥

भगवन् ! तव जन्माभिषेकमें नर्तक इन्द्रोंने अवदात ।
वह रोमाञ्च-कञ्चुकी धारण कर जो नृत्य किया विख्यात ॥
और देवियोंकी वीणासे जो झङ्कार हुई जगदीश ।
उन सबका उल्लेख न कोई भी कर सकता है हे ईश ॥२३॥

टीका – हे देव ! तत्केन न केनापि संवर्ण्यते सम्यक् श्रूयते । तत्किं यदनर्त्ति नर्त्तनं कृतम् । कैर्देवेन्द्रैः कदा त्वज्जननाभिषेक-समये किं विशिष्टैः रोमाञ्च एव सन् प्रशस्तः कञ्चुकः सन्नाहो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

येषां ते तैस्तथोक्तैः पुलकितगात्रैरित्यर्थः। पुनः किं विशिष्टैः लब्धप्रभावैः प्राप्तमाहात्म्यैः नर्त्तनविधौ नाट्यविधाने कथं स्फुटं व्यक्तं, न केवलं देवेन्द्रैर्यदनर्त्ति किञ्च यदन्यदपूर्वमभूत्। किं तदित्याह—सुराणां सुन्दर्यो देवांगनास्तेषां कुचतटप्रान्ताः प्रशस्तस्तनाग्राणि तेषु अवनद्धा बद्धाः संयोजिता उत्तमा उत्कृष्टाः प्रेङ्खन्त्यः स्फुरन्त्यो वल्लक्यो वीणास्तासां नादझङ्कृतं शब्दझङ्कारः अहो आश्चर्यं वल्लकिनादेत्यत्रयाकारो स्त्री कृतौ ह्रसौ क्वचिदित्यनेन ह्रस्वः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (त्वज्जननाभिषेकसमये) आपके जन्माभिषेकके समय (नर्तनविधौ) नृत्य कार्यमें (लब्धप्रभावैः) प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने ऐसे (देवेन्द्रैः) इन्द्रोंने (रोमाञ्चसत्कञ्चुकैः) रोमाञ्चरूप कंचुक वस्त्रको धारण करते हुए (यत् स्फुटम् अनर्ति) जो स्पष्ट नृत्य किया गया था (किं च अन्यत्) और जो (सुरसुन्दरीकुचतटप्रान्तावनद्धोत्तमप्रेङ्खद्वल्लकिनादझङ्कृतम्) देवांगनाओंके स्तन तटके समीप बँधी हुई उत्तम शब्द करती हुई बीणाके शब्दकी झङ्कार हुई थी (अहो तत् केन वर्ण्यते) आश्चर्य है कि उस सबका वर्णन किससे हो सकता है? अर्थात् किसी से नहीं।

भावार्थ—हे भगवन्! जन्माभिषेकके समय इन्द्रने जो नृत्य किया था और देवांगनाओंने वीणा बजाई थी उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता ॥२३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव त्वत्प्रतिबिम्बमम्बुजदलस्मेरेक्षणं पश्यतां
यत्रास्माकमहो महोत्सवरसो दृष्टेरियान् वर्तते।
साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याणकाले तदा
देवानामनिमेषलोचनतया वृत्तः सः किंवर्ण्यते ।२४॥

अम्बुज-दल सम नयनमयी तव प्रतिमाका दर्शन कर देव !
जबकि हमारे नयनोंको यह इतना सुख मिलता स्वयमेव ॥
तव कल्याणक-समय एक टक नयनोंसे तव रूप अपार।
देख सुरोंको जो सुख मिलता, वह अवर्ण्य है सभी प्रकार ।२४॥

टीका—हे देव ! यत्र लोके अहो आश्चर्यं वर्त्तते । असि कोऽसौ महोत्सवरसः परमानन्दोद्रेकः कस्य दृष्टेः लोचनस्य किंविशिष्टः इयान् इदं परिणामः केषां दृष्टेः अस्माकं द्रष्टॄणां किं कुर्वतां पश्यताम् अवलोकयतां किं तत् । त्वत्प्रतिबिम्बं तव प्रतिमां कथं यथा भवति । अम्बुजदले इव कमलपत्र यथा स्मेरविकस्वरे ईक्षणे चक्षुषी यत्र दर्शनकर्मणि तत्तथोक्तम् । तत्र लोके यो दृष्टेर्महोत्सवरसो वृत्तः सम्पन्नः केषां देवानां किन्तु तव तां ईक्षितवतां दृष्टवतां कं भवतां त्व कथं साक्षात् अव्यवधानेन कदा तदा तस्मिन् काले क्व कल्याणकाले जन्मोत्सवादिसमये कया भवन्तमीक्षितवतां अनिमेषलोचनतया उन्मीलितैर्लोचनैः स किं वर्ण्यते कथ्यते न किमपि । स किञ्चिदपि वक्तुमशक्यः इत्यर्थः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (अम्बुजदलस्मेरेक्षणम्) कमल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की पाँखुड़ीकी तरह विकसित हैं नेत्र जिसमें ऐसे (त्वत्प्रतिबिम्बम्) आपके प्रतिबिम्ब—प्रतिमाको (पश्यताम्) देखनेवाले (अस्माकम्) हम लोगोंकी (दृष्टेः) आँखोंको (यत्र) जहाँ (अहो) आश्चर्य-कारक (इयान्) इतना (महोत्सवरसः) महान् आनन्द (वर्तते) हो रहा है (तत्र) वहां (तदा) उस समय (कल्याणकाले) पञ्च-कल्याणकों के काल में (अनिमेषलोचनतया) टिमकार रहित नेत्रोंसे (भवन्तम्) आपको (साक्षात्) साक्षात् रूपसे (ईक्षितवताम्) देखनेवाले (देवानाम्) देवोंके (वृत्तः) प्रकट हुआ (सः) वह आनन्द (किम्) क्या (वर्ण्यते) वर्णित किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—हे भगवन्! जब हमें आपकी जड़ प्रतिमाके दर्शन करनेसे इतना अपार आनन्द होता है तब कल्याणकोंके समय आपके दर्शन करनेवाले देवोंको जो आनन्द होता होगा उसका कौन वर्णन कर सकता है? ॥२४॥

दृष्टं धाम रसायनस्य महतां दृष्टं निधीनां पदं
दृष्टं सिद्धरसस्य सद्म सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः।
किं दृष्टेरथवानुषङ्गिकफलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं
दृष्टं मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं दृष्टे जिनश्रीगृहे ॥२५॥

जिन श्री-गृहको देख रसायनका गृह देखा हे जिनराज!
देखा निधियोंका निवास-गृह, देखा सिद्ध-रसालय आज॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तामणी-निकेतन देखा, अथवा इनसे है क्या लाभ ?
देखा मैंने आज मुक्तिका परिणय-मंगल-गृह अमिताभ ।।२५।।

टीका—दृष्टमवलोकितं किं तत् धाम स्थानम्, कस्य रसायनस्य लाभोपायादिशस्तानां रसादीनां रसायनम् केन दृष्टं मया क्व सति जिनश्रीगृहे । अर्हतः श्रीमति चैत्यालये किंविशिष्टे दृष्टं दृष्टे तथा किं तत् पदं स्थानं केषां निधीनां पद्मशङ्खादीनां निधानानां किंविशिष्टानां महतां महद्भिराकांक्ष्यमाणानां तथा दृष्टम् । किं तत् सद्म महास्थानं कस्य सिद्धरसस्य समस्तसंस्कारोत्तीर्णस्य पारदस्य तथा दृष्टं किं तत् सदनं स्थानं कस्य चिन्तामणेः चिन्तितार्थप्रदस्य रत्नविशेषस्य अथवा किंकार्यकैः एभिः रसायनादिस्थानैः किंविशिष्टैः दृष्टैः किंविशिष्टैः एभिः आनुषङ्गिकफलैः गौणप्रयोजनैः । यतो दृष्टं किं तत् मुक्तिविवाहमङ्गलगृहं मुक्तिश्रीप्रत्यासन्नाभूदिति भावः । केन मया कदा अद्य कथं ध्रुवं निश्चितं क्व सति दृष्टे जिनश्रीगृहे ।।२५।।

अन्वयार्थ—(जिनश्रीगृहे) जिनमन्दिर अथवा जिनेन्द्ररूप लक्ष्मीगृहके (दृष्टे 'सति') देखे जानेपर (मया) मैंने (रसायनस्य धाम दृष्टम्) रसायनका घर देख लिया, (महतां निधीनाम् पदं दृष्टम्) बड़ी बड़ी निधियोंका स्थान देख लिया, (सिद्धरसस्य) सिद्ध हुए रस-औषधिविशेषका (सद्म दृष्टम्) घर देख लिया, (च) और (चिन्तामणेः) चिन्तामणि रत्नका (सदनम् दृष्टम्) घर देख लिया । (अथवा दृष्टैः एभिः आनुषङ्गिकफलैः किम्) अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखे हुए इन गौण फलोंसे क्या लाभ है ? (ध्रुवम्) निश्चयसे (अद्य) आज (मया) मैंने (मुक्तिविवाहमङ्गलगृहम् दृष्टम्) मुक्ति-रूपी कन्याके विवाहमङ्गलका घर देख लिया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन, रसायन, निधि सिद्ध-रस और चिन्तामणि की तरह उपकारी तो है ही परन्तु मुक्ति प्राप्ति का भी कारण है ।।२५।।

दृष्टस्त्वं जिनराजचन्द्र-विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले
स्नातं त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे ।
नीतश्चाद्य निदाघजः क्लमभरः शान्ति मया गम्यते
देव ! त्वद्गतचेतसैव भवतो भूयात् पुनर्दर्शनम् ।२६।।

हे जिनचन्द्र ! किये तव दर्शन औ भूपति दृग-कुमुद-ललाम ।
विज्ञ चकोरोंको सुख प्रद तव संस्तुति-जलमें अति अभिराम ।।
स्नान किया है और आज ही शान्त किये हैं तापज क्लेश ।
अब जाता तव चिन्तन करता, तव दर्शन हो पुनः जिनेश ।२६।।

टीका—अथ स्तोता भगवन्तं स्तुत्वा स्वाभिमतदेशं गन्तुं विज्ञापयति । पुनर्दर्शनं चाशसति । हे जिनराजचन्द्र ! जिनानां गणधरदेवादीनां राजा स्वामी संसृत्यपायपरित्रायकत्वात् । जिन-राज एव चन्द्रः नयनमनसोराप्यायकत्वात् । तस्य सम्बोधनं क्रियते । हे जिनराजचन्द्र ! दृष्टोऽवलोकितः । कोऽसौ त्वं केन मया तथा स्नातं स्नानं कृतम् । आत्मा प्रक्षालित इत्यर्थः । क्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तव नुतिस्त्वन्नुतिः सैव चन्द्रिकाम्भः ज्योत्स्नाजलं तस्मिन् किंविशिष्टो विकसन्ति फुल्लन्ति भूपेन्द्रनेत्रोत्पलानि यस्मात् । तत्त्र भूपाश्च राजान इन्द्राश्च देवपतयस्तेषां नेत्राणि तान्येवोत्पलानि । पुनः किंविशिष्टः भवज्जायमानः विद्वच्चकोराणां बुधोत्तमानां चतुरचकोरपक्षिणां च उत्सव आनन्दो यस्मात् तत्तत्र तथानीतश्च प्रापितः । कोऽसौ क्लमभरः भवक्लेशग्लानिमहिमा किंविशिष्टः । अघनिदाघजः पापग्रीष्मप्रभवः कां नीतं शान्ति प्रशमम् । केन मया । तदिदानीं कृतकृत्यत्वात् । हे देव ! आराध्यस्वामिन्! गम्यते गमनं क्रियते । केन मया किंविशिष्टेन त्वद्गतचेतसैव त्वां चिन्तयतेव यद्यप्येवं तत्तथापि श्रेयसे केन तृप्यत इति । भवतस्तव भूयादस्तु पुनर्दर्शनं भूयोऽवलोकनमिति श्रेयः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(जिनराजचन्द्र) हे जिनेन्द्रचन्द्र ! (मया त्वम् दृष्टः) मैंने आपके दर्शन किये तथा (विकसद्भूपेन्द्रनेत्रोत्पले) जिसमें राजाओंके नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं ऐसे तथा (भवद्विद्वच्चकोरोत्सवे) जिसमें विद्वान्‌रूप-चकोर पक्षियों को आनन्द हो रहा है ऐसे (त्वन्नुतिचन्द्रिकाम्भसि) आपकी स्तुतिरूप जलमें (स्नातम्) स्नान किया (च) और (अद्य) आज (निदाघजः) सन्तापसे उत्पन्न हुआ (क्लमभरः) खेद का समूह (शान्तिम् नीतः) शान्तिको प्राप्त कराया (देव) हे देव ! (त्वद्गतचेतसा एव मया गम्यते) अब मैं आपमें ही चित्त लगाता हुआ जाता हूं (भवतः दर्शनम् पुनः भूयात्) आपके दर्शन फिर भी हों ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने आपके दर्शन किये और स्तुति भी की। तथा मनका समस्त सन्ताप भी दूर किया। अब मैं जाता हूं, पर मेरा चित्त आपमें ही लग रहा है। मैं प्रार्थना करता हूं कि मुझे आपके दर्शन फिर भी प्राप्त होवें ॥२६॥

संस्कृतटीकाप्रशस्तिः

उपशम इव मूर्त्तिः पूतकीर्तिः स तस्माद्
*जयति विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसन्दर्भगर्भाः
शुचिचरितसहिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥

संवत्सरे वसुमुनिसप्तेन्दुमिते (१७७८) भाद्रपदकृष्णद्वादशीतिथौ मोजावादनगरे श्रीमूलसङ्घे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकोत्तमजी श्रीश्री १०८ देवेन्द्रकीर्तिजी कस्य शासनकारि बुधजी श्रीहीरानन्दजी कस्य शिष्येन विनयवता चोखचन्द्रेण स्वशयेन स्वपठनार्थं लिखितेयं भूपालचतुर्विंशतिका टीका। वाचकानां सततं शं भूयात्।

विनयचन्द्रस्यार्थमित्याशाधरविरचिता भूपालचतुर्विंशते-
जिनेन्द्रस्तुतेष्टीका परिसमाप्ता।

सज्जन रूपी चकोरके लिये चन्द्रमाके समान तथा पवित्र

---

* 'भजति' इति मूलपाठः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीर्तिके धारक वह विनयचन्द्र जयशील हों, जिनकी पवित्र चरित्र के कारण वीतरागताको प्राप्त अमृतरससे भरी हुई तथा शास्त्रोंके सन्दर्भसे परिपूर्ण वाणी संसारके कल्याणके लिये आधारभूत है।

इस प्रकार विनयचन्द्रके लिये श्री आशाधरके द्वारा विरचित भूपालचतुर्विंशतिका नामक जिनेन्द्र स्तुतिकी टीका समाप्त हुई।

संवत् १७७८ भाद्रपद कृष्ण १२ तिथिको मोजाबाद नगरमें श्री मूलसंघ नन्दि-आम्नाय बलात्कार गण सरस्वतीगच्छ कुन्द-कुन्दाचार्यान्वयमें भट्टारकोत्तम श्री श्री १०८ देवेन्द्रकीर्तिजी हुए। उनके आज्ञाकारी शिष्य बुधजी हीरानन्दजीके विनयशील शिष्य चोखचन्द्रने अपने पढ़नेके लिये अपने हाथसे यह भूपालचतुर्विंशतिका टीका लिखी। वाचकों का सर्वदा कल्याण होवे।

इति भूपालकविप्रणीता जिनचतुर्विंशतिका समाप्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

बृहत्स्वयंभूस्तोत्रम्

श्रीवृषभजिनस्तवनम्

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले ।
समञ्जसज्ञान विभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः ।
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

अन्वयार्थ— (स्वयंभुवा) जो स्वयंभू थे-दूसरे के उपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जान कर तथा उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टयस्वरूप हुऐ थे, (भूतहितेन) प्राणियों के लिये हितकारक थे, (समञ्जसज्ञान विभूति चक्षुषा) सम्यग्ज्ञान की विभूति रूप नेत्र से युक्त थे और (गुणोत्करैः करैः) स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत गुणों के समूह से युक्त वचनों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा (तमः) ज्ञानावरणादि कर्म रूप अज्ञान को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (येन) जो (भूतले) पृथिवीतल पर (गुणोत्कर: करैः) अर्थ प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा (तमः) अन्धकार को (विधुन्वता) नष्ट करते हुए (क्षपाकरेणेव) चन्द्रमा के समान (विराजितम्) सुशोभित होते थे ॥१॥

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो ।
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः प्रजापतिः 'बभूव') जो तीन लोक की समस्त जनता के स्वामी थे। जिन्होंने (प्रथमं) कर्मभूमि के प्रारम्भ में (प्रबुद्धतत्वः) मति श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा लोगों के कर्म तथा उनके फलों को जानकर (जिजीविषूः प्रजाः) जीवित रहने की इच्छुक जनता को (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती आदि आजीविका के उपयोगी छह कार्यों में (शशास) शिक्षित किया था और (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्वः) हेय-उपादेय तत्व को अच्छी तरह जान कर (अद्भुतोदयः) इन्द्र आदि के द्वारा की हुई आश्चर्यकारी विशिष्ट विभूति को प्राप्त होते हुए जो (ममत्वतः) ममता भाव से—परिग्रह विषयक आसक्ति से (निर्विविदे) विरक्त हो गये थे तथा इन सब कारणों से जो (विदांवरः) श्रेष्ठ ज्ञानी हुए थे ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विहाय यः सागरवारिवाससं ।
वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षु रिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् ।
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।३।।

अन्वयार्थ—(यः) जो (मुमुक्षुः) मोक्ष के अभिलाषी अथवा संसार समुद्र से पार उतरने के इच्छुक थे, (आत्मवान्) जितेन्द्रिय थे, (प्रभु) सामर्थ्यवान् अथवा स्वतन्त्र थे, (सहिष्णुः) परीषह आदि की बाधाओं को सहन करने वाले थे, (अच्युतः) गृहीतव्रत से अविचलित रहने वाले थे, (इक्ष्वाकुकुलादि।) इक्ष्वाकुकुल अथवा समस्त राजवंशों में आदि पुरुष थे और जिन्होंने (सतीम्) किसी अन्य राजा के द्वारा अमुक्त होने से पतिव्रता (इमाम्) इस (सागरवारिवाससम्) समुद्र के जल रूप वस्त्र को धारण करने वाली-समुद्रान्त, (वसुधावधूम्) धनधान्य से परिपूर्ण पृथिवी रूपी स्त्री को (सतीं वधूमिव) पतिव्रता स्त्री के समान (विहाय) छोड़कर (प्रवव्राज) दीक्षा धारण की थी ।।३।।

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा ।
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा ।
बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वदोषमूलम्) अपने काम क्रोध आदि समस्त दोषों के मूल कारण—चारघातिया कर्मों को (स्वसमाधितेजसा) परमशुक्लध्यान रूपी-अग्नि के द्वारा (निर्दयभस्म-सात्क्रियां निनाय) निर्दयता पूर्वक भस्मभाव को प्राप्त कराया है—समूल नष्ट कर दिया तथा जिन्होंने (अर्थिने जगते) तत्वज्ञान के अभिलाषी प्राणिसमूह के लिये (अञ्जसा) वास्तविक (तत्वं) जीवादि तत्वों का स्वरूप (जगाद) कहा (च) और अन्त में जो (ब्रह्मपदामृतेश्वरः) मोक्षस्थान के अविनाशी—अनन्त सुख के स्वामी (बभूव) हुए ॥४॥

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां ।
समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो ।
जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥५॥

अन्वयार्थ—(विश्वचक्षुः) जिनका केवलज्ञान रूपी चक्षु समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, जो (सताम्) इन्द्र आदि सत्पुरुषों के (अर्चितः) पूजित हैं, (समग्रविद्यात्मवपुः) जीवा-जीवादि समस्त पदार्थों को विषय करने वाली बुद्धि ही जिनकी आत्मा का स्वरूप है, (निरञ्जनः) ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित होने के कारण जो निर्मल हैं, (नाभिनन्दनः) चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र हैं, (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले हैं, और (जित क्षुल्लकवादि शासनः) जिन्होंने क्षुद्रवादियों के शासन को जीत लिया है अथवा (अजित क्षुल्लक वादिशासनः) जिनका शासन क्षुद्रवादियों के द्वारा नहीं जीता जा सका है (सः) वे (वृषभः) धर्म से सुशोभित रहने वाले अथवा धर्म को सुशोभित करने वाले वृषभनाथ भगवान् (मम) मेरे (चेतः) चित्त को (पुनातु) पवित्र करें–रागादि विकारी भावों से रहित कर निर्मल बनावें ।।५।।

श्री अजित जिनस्तवनम्

यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य ।
क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार ।
नामाजित इत्यबन्ध्यम् ।।१।।

अन्वयार्थ—(त्रिदिवच्युतस्य) स्वर्ग से अवतीर्ण हुए (यस्य) जिनके (प्रभावात्) प्रभाव से उनका (बन्धुवर्गः) कुटुम्बि समूह (क्रीडास्वपि) बालक्रीडाओं में भी (क्षीबमुखारविन्दः) हर्षोन्मत्तमुख कमल से युक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से वह बन्धुवर्ग (भुवि) पृथिवी पर (अजेय शक्ति) अजेय शक्ति का धारक रहता था और इसीलिये उस बन्धुवर्ग ने (यस्य) जिनका (अजितः) अजित (इति) यह (अबन्ध्यम्) सार्थक (नाम) नाम (चकार) रक्खा था ।।१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अद्यापि यस्याजितशासनस्य ।
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं ।
स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥२॥

अन्वयार्थ—(अजितशासनस्य) पर वादियों के द्वारा अविजित अनेकान्तमत से युक्त तथा (सतां प्रणतुः) सत्पुरुषों के प्रधान नायक (यस्य) जिन अजितनाथ भगवान् का (परं पवित्र) अत्यन्त पवित्र (नाम) नाम (अद्यापि) आज भी (स्वसिद्धिकामेन) अपने मनोरथों की सिद्धि के इच्छुक (जनेन) जन समूह के द्वारा (प्रतिमङ्गलार्थम्) प्रत्येक मङ्गल के लिये (प्रगृह्यते) सादर ग्रहण किया जाता है ॥२॥

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना ।
भव्याशयालीन कलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो ।
यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥३॥

अन्वयार्थ—(मुक्तघनोपदेहः) ज्ञानावरणादि कर्म रूप सघन आवरण से रहित (यः) जो (महामुनिः) गणधरादि देवों में प्रधान अथवा प्रत्यक्षज्ञानी अजितनाथ भगवान् (भव्याशयालीन-कलङ्कशान्त्यै) भव्यजनों के हृदय में संलग्न अज्ञान अथवा उसके कारणभूत ज्ञानावरणादिकर्म रूप कलङ्क की शान्ति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिये (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगत् का उपकार करने में समर्थ वाणी के माहात्म्य विशेष अथवा प्रभुत्वशक्ति की प्रचुरता से ('तथा' प्रादुरासीत्) उस तरह प्रकट हुए थे (यथा) जिस तरह कि (मुक्तघनोपदेहः) मेघरूप आच्छादन से मुक्त सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलों के विकास रूप अभ्युदय के लिये प्रकट होता है ॥३॥

येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ।
[1]ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं ।
गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥४॥

अन्वयार्थ—(येन) जिन अजितनाथ भगवान् के द्वारा (प्रणीतं) प्रकाशित (पृथु) अत्यन्त विस्तृत एव (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्मके प्रतिपादक श्रुतको (प्राप्य) पाकर (जनाः) भव्यजीव (दुःखं) संसार परिभ्रमणरूप क्लेश को उस तरह (जयन्ति) जीत लेते हैं जिस तरह कि (घर्म तप्ताः) सूर्य के आताप से पीड़ित (गज प्रवेकाः) बड़े बड़े हाथी (चन्दन पङ्क शीतं) चन्दन के द्रव के समान शीतल (गाङ्ग ह्रदं) गङ्गा नदी के द्रह-अगाध जल को पाकर सूर्य के संताप से उत्पन्न दुःख को जीत लेते हैं ॥४॥

१ अतिशयेन प्रशस्य ज्येष्ठ, 'प्रशस्य श्रः' इति श्र आदेशे श्रेष्ठ 'ज्या च' इति ज्या आदेशे ज्येष्ठं भवति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु ।
विद्याविनिर्वान्तकषाय दोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोजितात्मा । अजितात्मा
जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(विद्याविनिर्वान्त कषाय दोषः) जिन्होंने परमागम के ज्ञान और उसमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग के अनुष्ठान रूप विद्या के द्वारा कषाय रूपी दोषों को अथवा द्रव्यक्रोधादिरूप कषाय और भावक्रोधादि रूप दोषों को बिल्कुल नष्ट कर दिया है, जो (ब्रह्मनिष्ठः) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हैं, (सममित्रशत्रुः) जिन्हें मित्र और शत्रु समान हैं, (लब्धात्मलक्ष्मीः) जो आत्मा की अनन्त ज्ञानादिरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर चुके हैं, और (जितात्मा) जिन्होंने अपने आप को जीत लिया है अर्थात् जो इन्द्रियों के आधीन नहीं हैं (सः) वे (अजितः भगवान्) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओं क द्वारा अपराजित अजितनाथ भगवान् (मह्यम्) मेरे लिये (जिनश्रियम्) आर्हन्त्यलक्ष्मी-अनन्त ज्ञानादि विभूति (विधत्ताम्) प्रदान करें ॥५॥

श्री शम्भव जिनस्तवनम्

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः ।
संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो ।
वैद्यो यथाऽनाथरूजां प्रशान्त्यै ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वं शंभवः) आप से भव्य जीवों को सुख प्राप्त होता है इसलिये आप 'शंभव' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले हैं। आप (इह लोके) इस संसार में (संभवतर्षरोगैः) सांसारिक भोग तृष्णा रूप रोगों से (संतप्य-मानस्य) अतिशय पीडित (जनस्य) जन समूह के लिये (तथा) उस तरह (आकस्मिक एव) फल की अपेक्षा से रहित (वैद्यः) वैद्य (आसीः) हुए थे (यथा) जिस तरह कि (अनाथरुजाम्) अशरण मनुष्यों के रोगों की (प्रशान्त्यै) शान्ति के लिये (वैद्यः) धनादि की इच्छा से रहित वैद्य होता है।

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः ।
प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं ।
निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनित्यम्) विनश्वर (अत्राणम्) रक्षक रहित, (अहंक्रियाभिः) 'मैं' ही सब पदार्थों का कर्त्ता धर्त्ता हूं, इस प्रकार अहंकार ममकार की क्रियाओं से संलग्न मिथ्या-भिनिवेश रूप दोष से दूषित तथा (जन्मजरान्तकार्त्तं) जन्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुढ़ापा और मृत्यु से पीडित (इदं जगत्) इस जगत् को (त्वम्) आपने (निरञ्जनां) कर्म कलङ्क से रहित मुक्ति रूप (शान्ति) शान्ति को (आजीगमः) प्राप्त कराया है ।।२।।

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं ।
तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं ।
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ।।३।।

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (सौख्यं) इन्द्रिय जन्य सुख (शत ह्रदोन्मेषचल। बिजली की कोंद के समान चञ्चल है तथा (तृष्णामयाप्यायन मात्र हेतुः) तृष्णा रूपी रोग की पुष्टि मात्र का कारण है। (च) और (तृष्णाभिवृद्धि) तृष्णा की चौमुखी वृद्धि (अजस्रं) निरन्तर (तपति) ताप उत्पन्न करती है, एवं वह (तापः)ताप (तत्)जगत् को (आयासयति} क्लेशों की परम्परा द्वारा दुखी करता है (इति अवादीः) ऐसा आपने कहा था ।।३।।

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू ।
बद्धश्च मुक्तश्च फलंच मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं ।
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।।४।।

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् (बन्धश्च) बन्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मोक्षश्च) मोक्ष, (तयोर्हेतू च) बन्ध और मोक्ष के हेतु (बद्धश्च) बद्ध आत्मा (मुक्तश्च) मुक्त आत्मा (च) और (मुक्तेः) मुक्ति का (फलं) फल यह सब (स्याद्वादिनः) अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले (तवैव) आपके ही (मते) मत में (युक्तं) ठीक होता है (एकान्तदृष्टेः न) एकान्तदृष्टि रखने वाले बौद्ध अथवा सांख्य आदि के मत में ठीक नहीं होता (अतः) इसलिये (त्वम्) आप ही (शास्ता) तत्त्वोपदेष्टा हैं ॥४॥

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां
प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो
ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥५॥

अन्वयार्थ · (हे आर्य !) गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा सेव्य हे शंभव जिनेन्द्र ! (पुण्यकीर्तेः) पवित्र ख्याति, पवित्र वाणी अथवा पुण्यवर्धक स्तुति से युक्त (तव) आपकी (स्तुत्यां) स्तुति में (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ (शक्रःअपि) अवधिज्ञानी और समस्त श्रुत का धारक इन्द्र भी जब (अशक्तः) असमर्थ रहा है तब (मादृशः अज्ञः किमु) मेरे जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है ? यद्यपि यह बात है (तथापि) तो भी (भक्त्या) तीव्र अनुराग द्वारा (स्तुतपादपद्मः) स्तुत चरण कमलों से युक्त आप (मम) मेरे लिये (उच्चैः) उत्कृष्ट (शिवतातिम्) यथार्थ सुखकी सन्तति को (देयाः) प्रदान करें ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अभिनन्दनजिनस्तवनम्

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्
दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन
नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (गुणाभिनन्दात्) अनन्तज्ञानादि अन्तरङ्ग और सकल लक्ष्मी आदि बहिरङ्ग गुणों की वृद्धि होने से (अभिनन्दन) अभिनन्दन इस सार्थक नाम को धारण करने वाले (भवान्) आपने (क्षान्तिसखीं) क्षमारूप सखी से सहित (दयावधूम्) दया रूप स्त्री का (अशिश्रियत्) आश्रय लिया था तथा (समाधितन्त्रः) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूप समाधि को प्रधान लक्ष्य बना कर (तदुपोपपत्तये) उसकी सिद्धि के लिये आप (द्वयेन) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से दोनों प्रकार के (नैर्ग्रन्थ्यगुणेन) निष्परिग्रहता रूप गुण से (अयुजत्) युक्त हुए थे ॥१॥

२ अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च
ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च
क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अचेतने) अचेतन शरीर में (च) और (तत्कृतबन्धजेऽपि) उस अचेतन शरीर के द्वारा किये हुए कर्मबन्ध से उत्पन्न सुख दु खादिक तथा स्त्री पुत्रादि पर पदार्थों में (ममेदम्) यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ (इति) इस प्रकार के (अभिनिवेशिक ग्रहात्) मिथ्या अभिप्राय को स्वीकार करने से अथवा मिथ्या अभिप्राय रूप पिशाच से (च) तथा (प्रभङ्गुरे) विनश्वर शरीर पर पदार्थ में (स्थावर निश्चयेन) स्थायित्व के निश्चय से (क्षतं) नष्ट हुए (जगत्) जगत को (भवान्) आपने (तत्वं) जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप (अजिग्रहत्) ग्रहण कराया है-समझाया है ॥२॥

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः
स्थितिर्नचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो
रितीद मित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(क्षुदादि दुःख प्रतिकारतः) क्षुधा तृषा आदि के दुःख का प्रतिकार करने से भोजन पान ग्रहण करने से (च) और (इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः) स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से उत्पन्न अल्प सुख से (देहदेहिनोः) शरीर और शरीर धारी आत्मा की (स्थितिः) सदा स्थिति नहीं रहती (ततः) इसलिये उनसे उनका कुछ (गुणः) उपकार (नास्ति) नहीं है (इत्थम्) इस तरह (इदम्) इस जगत् को (भगवान्) भगवान् अभिनन्दन जिनेन्द्र ने (इति) यह परमार्थ तत्त्व (व्यजिज्ञपत्) बतलाया है ॥३॥

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्
कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(जनः) मनुष्य (अतिलोलः अपि 'सन्') अत्यन्त आसक्त होता हुआ भी (अनुबन्धदोषतः) आसक्ति रूप दोष से (भयात्) राजा आदि के भय के कारण (इह) इस संसार में (अकार्येषु) परस्त्री सेवन आदि अकरणीय कार्यों में (न प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होता है फिर (इहापिअमुत्रापि) इस लोक और पर लोक दोनों ही जगह (अनुबन्ध दोषवित्) आसक्ति के दोष को जानने वाला मनुष्य (सुखे) विषय सुख में (कथं संसजति कैसे आसक्त होता है यह आश्चर्य की बात है (इति च अब्रवीत्) हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! जगत् के जीवों को आपने यह भी बतलाया है ॥४॥

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति प्रभो लोकहितं यतो मतं
ततो भवानेव गतिः सतां मतः ।।५।।

अन्वयार्थ—(सः अनुबन्धः) वह आसक्तता (च) और आसक्तता से उत्पन्न होने वाली (तृषोऽभिवृद्धिः) उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि-दोनों ही (अस्य जनस्य) इस विषयातिसक्त मनुष्य के लिये (तापकृत्)संताप उत्पन्न करने वाली है(सुखतः) प्राप्त हुए अल्पमात्र विषय सुख से (न च स्थितिः) जीव की सुख से स्थिति नहीं होती अर्थात् अल्प सुख से जीव संतुष्ट नहीं होता (इति) इस तरह (प्रभो !) हे स्वामिन् (यतः) चूंकि (मतं) आपका मत (लोकहितं) लोक कल्याणकारी है (ततः) इसलिये (भवानेव) आप ही (सतां) विवेक शाली सत्पुरुषों के (गतिः) शरण (मतः) माने गये हैं ।।५।।

श्री सुमतिजिनस्तवनम्

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं
मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्वक्रियाकारकतत्वसिद्धिः ।।१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आप (मुनिः) प्रत्यक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानी हैं तथा (सुमतिः अन्वर्थ संज्ञः) सुमति इस सार्थक संज्ञा से युक्त हैं—उत्तम बुद्धि से सहित होने के कारण आपका 'सुमति' नाम सार्थक है (येन) क्योंकि आपने (सुयुक्तिनीत) उत्तम युक्तियों से युक्त (तत्वं) तत्व (स्वयं मतं) स्वयं स्वीकृत किया है (च) और (शेषेषु मतेषु) आपके मत से शेष अन्य मतों में (सर्व क्रिया कारक तत्व सिद्धिः) सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता कर्म करण आदि कारणों की तत्वसिद्धि (नास्ति) नहीं है। ॥२॥

अनेकमेकं च तदेव तत्वं
भेदान्वय ज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(तदेव तत्वं) वही सुयुक्तिनीत तत्व (अनेकं च एकं) अनेक तथा एक रूप है। (हि) निश्चय से (इदं भेदान्वयज्ञानं) अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाला यह अन्वयज्ञान (सत्यम्) यथार्थ है। इनमें से किसी एक को (उपचारः) उपचार रूप कल्पित मानना (मृषा) मिथ्या है क्योंकि (अन्यतरस्य) दो में से किसी एक का (लोपे) लोप अभाव होने पर (तच्छेषलोपोऽपि) उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और (ततः) दोनों का अभाव हो जाने से तत्व (अनुपाख्यम्) निःस्वभाव होने से अवाच्य हो जाता है ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सतः कथंचित्तदसत्वशक्तिः खे
नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभाव च्युतमप्रमाणं
स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(सतः) स्वद्रव्यक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा सद्‌रूप जीवादि पदार्थ के (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा-पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा (असत्त्वशक्तिः) असद्‌रूपता है जसे कि (पुष्पं) फूल (तरुषु) वृक्षों पर (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है और (खे) आकाश में (नास्ति) नहीं है। यदि तत्व को (सर्वस्वभाव च्युतं) सत्व और ससत्व-दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह (अप्रमाणं) प्रमाण रहित हो जावेगा। हे भगवन्! (तव दृष्टितः अन्यत्) तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन (स्ववाग्विरुद्धं) स्ववाणी से विरुद्ध हैं। अर्थात् स्वपनबाधित हैं ॥३॥

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च
क्रियाकारक मंत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्‌गलभावतोऽस्ति ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्वथा नित्यं) सब प्रकार से नित्य वस्तु (न उदेति न अपैति) न उत्पन्न होती है, न नष्ट ही होती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(च न) और न (अत्र) इस मान्यता में (क्रिया कारकं युक्तम्) क्रिया कारक भाव ही संगत होता है। क्योंकि (असतः) असत्–अविद्यमान पदार्थ का (नैव जन्म) जन्म नहीं होता और (सतो न नाशः) सत्–विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता। यदि कहा जाय कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है यहां तो सत् का नाश मानना ही पड़ेगा तो उसका उत्तर यह है कि (दीपः) दीपक (तमःपुद्गल भावतः अस्ति) अन्धकार रूप पुद्गल द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है ॥४॥

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं
मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥५॥

अन्वयार्थ—(विधिः) अस्तित्व (च) और (निषेधः) नास्तित्व दोनों ही (कथञ्चित्) किसी अपेक्षासे (इष्टौ) इष्ट है। (विवक्षया) वक्ता की इच्छा से उनमें (मुख्य गुण व्यवस्था) मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। (इति) इस तरह (इयं) यह (प्रणीतिः) तत्व निरूपण की पद्धति (सुमतेः तव) आप सुमति नाथ स्वामी की है। (नाथ) हे स्वामिन्! ('त्वां' स्तुवतः 'मे') आपकी स्तुति करते हुए मुझे (मति प्रवेकः) मति का उत्कर्ष प्राप्त होवे ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री पद्मप्रभजिनस्तवनम्

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः
पद्मालयालिङ्गित चारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥

अन्वयार्थ—(पद्मपलाशलेश्यः) जिनके शरीर का वर्ण कमल पत्रके समान लाल रङ्गका था तथा (पद्मालया लिङ्गित चारुमूर्तिः) जिनकी आत्मस्वरूप निर्मलमूर्ति अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी से एवं जिनकी समस्त उत्तम लक्षणों से सहित शरीर रूप मूर्ति निःस्वेदत्व आदि-पसीना के अभाव आदि रूप बाह्य लक्ष्मी से आलिङ्गित थी ऐसे (पद्मप्रभः) पद्मप्रभ जिनेन्द्र थे। हे जिनेन्द्र ! (भवान्) आप (भव्यपयोरुहाणां) भव्य जीव रूप कमलों के हितोपदेश रूप विकास के लिये उस तरह (बभौ) सुशोभित हुए थे जिस तरह कि (पद्माकराणामिव पद्म बन्धुः) कमल समूह के विकास के लिये सूर्य सुशोभित होता है ॥१॥

बभार पद्मां च सरस्वतीं च
भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां
सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२॥

विचारणीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे पद्मप्रभजिनेन्द्र ! (भवान्) आपने (प्रति-मुक्तिलक्ष्म्याः पुरस्तात्) मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पूर्व अर्थात् अरहन्त अवस्था में (पद्माम्) अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी (च) और (सरस्वतीं) दिव्यवाणी-दिव्यध्वनि को (बभार) धारण किया था अथवा (समग्रशोभां) समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप विभूति और समवसरणादि रूप समस्त शोभा से युक्त (सरस्वतीमेव) दिव्यवाणी को ही धारण किया था पीछे (विमुक्तः सन्) समस्त कर्ममल से रहित होकर (ज्वलितां) देदीप्यमान—सदा उपयोग रूप (सर्वज्ञलक्ष्मीं) सर्वज्ञता रूप लक्ष्मी को धारण किया था ।२।

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते
बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नरामराकीर्णसभां प्रभावच्
छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ।।३।।

अन्वयार्थ—(बालार्करश्मिच्छविः) प्रातः कालीन सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले (तेः प्रभो) आप स्वामी के (शरीररश्मिप्रसरः) शरीर सम्बन्धी किरणों के समूह ने (नरामराकीर्णसभां) मनुष्य और देवों से व्याप्त समवसरण सभा को (पद्माभमणेः शैलस्य प्रभावत् स्वसानुमिव आलिलेप) उस तरह आलिप्त कर रक्खा था जिस तरह कि पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त कर रखती है ।।३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं
सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ
प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥४॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (पातितमारदर्पः) कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले (त्वम्) आपने (सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः) सहस्रदल कमलों के मध्य में चलने वाले अपने (पादाम्बुजैः) चरण कमलों के द्वारा (नभस्तलं) आकाश तल को (पल्लवयन्निव) पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए (भूमौ) पृथिवि पर स्थित (प्रजानां विभूत्यै) प्रजाजनों की विभूति के लिये (विजहर्थ) विहार किया था ॥४॥

गुणाम्बुधे विप्रुष मप्यजस्रं
नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति-
मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ऋषेः) समस्त ऋद्धियों के निधान स्वरूप (तव) आपके (गुणाम्बुधेः) गुण रूप सागर की (विप्रुषमपि) एक बूंद को भी (अजस्रम्) निरन्तर (स्तोतुं) स्तुति करने के लिये जब (आखण्डलः) इन्द्र (प्रागेव) पहले ही (अलं न) समर्थ नहीं होसका है तब (मादृक) मेरे जैसा असमर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य (किमुत) कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। (अतिभक्तिः) यह तीव्र भक्ति ही (मां बालं) मुझ अज्ञानी से (इत्थं) इस तरह (इदं) इस स्तवन को (आलापयति) कहला रही है ॥५॥

श्री सुपार्श्वजिनस्तवनम्

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्नच तापशान्तिरितीद
माख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥१॥

अन्वयार्थ—(यत् आत्यन्तिकं स्वास्थ्यम्) जो अविनाशी स्वरूपलीनता है (एष) यही (पुंसां) जीवात्माओं का (स्वार्थः) निजी प्रयोजन है (परिभङ्गुरात्मा) क्षणभङ्गुर (भोगः) भोग (स्वार्थः न) निजी प्रयोजन नहीं है। (तृषः) उत्तरोत्तर भोगाकाङ्क्षा की (अनुषङ्गात्) वृद्धि से (न च तापशान्तिः) ताप की शान्ति नहीं होती है (इति इदम्) इस प्रकार यह विवेक (भगवान् सुपार्श्वः) विशिष्टज्ञानी सुपार्श्वनाथ ने कहा है ॥१॥

अजङ्गमं जङ्गमनेय यन्त्रं यथा
तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (जङ्गमनेययन्त्रं) गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र स्वयं (अजङ्गम) गति रहित होता है (तथा) उसी तरह (जीवधृतं) जीवके द्वारा धारण किया हुआ (शरीरं) शरीर स्वयं (अजङ्गमं) गति रहित है–जड है। साथ ही यह शरीर (बीभत्सु) घृणित (पूति) दुर्गन्ध से युक्त, (क्षयि) विनश्वर (च) और (तापकं) संताप उत्पन्न करने वाला है इसलिये (अत्र) इस शरीर में (स्नेहः) अनुराग करना (वृथा) व्यर्थ है (इति) यह (हित) हितकारक वचन (त्वम्) हे सुपार्श्व जिन ! आपने (आख्यः) कहा है ॥२॥

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं
हेतुद्वया विष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हेतुद्वया विष्कृत कार्यलिङ्गा) शुभ अशुभ कर्म अथवा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिङ्ग-ज्ञापक है ऐसी (इयं) यह (भवितव्यता) भवितव्यता–होनहार (अलङ्घ्यशक्तिः) अलङ्घ्यशक्ति है—किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती। तथा भवितव्यता को अपेक्षा नहीं रखने वाला (अहङ्क्रियार्तः) अहंकार से पीडित हुआ (जन्तुः) संसारी प्राणी (संहत्य) अनेक सहकारी कारणों से मिलकर भी (कार्येषु) सुख दुःखादि (कार्येषु) कार्यों में (अनीश्वरः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असमर्थ है हे सुपार्श्व जिनेन्द्र ! आपने (इति) यह (साधु) ठीक ही (अवादीः) कहा है ।।३।।

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो
नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ।।४।।

अन्वयार्थ—यह जीव (मृत्योः) मरण से (बिभेति) डरता है परन्तु (ततः) उससे (मोक्षः) छुटकारा (न अस्ति) नहीं है (नित्यं) सदा (शिवं) कल्याण अथवा निर्वाण की (वाञ्छति) इच्छा करता है परन्तु (अस्य लाभः न) इसकी प्राप्ति नहीं होती (तथापि) फिर भी (भय काम वश्यः) भय और काम के वशीभूत हुआ (बालः) अज्ञानी प्राणी (स्वयं) स्वयं ही (वृथा) निष्प्रयोजन (तप्यते) दुःखी होता है हे भगवन् (इति) यह आपने (अवादीः) कहा है ।।४।।

सर्वस्य तत्वस्य भवान्प्रमाता
मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता
मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य ।।५।।

अन्वयार्थ—(भवान्) आप (सर्वस्य तत्वस्य) समस्त जीवादि पदार्थों के (प्रमाता) संशयादि रहित ज्ञाता हैं, (बालस्य) सन्तान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को (मातेव) माता के समान (बालस्य) अज्ञानी जनों को (हितानु शास्ता) हित का उपदेश देने वाले हैं और (गुणाव-लोकस्य जनस्य) सम्यग्दर्शनादि गुणों का अन्वेषण करने वाले भव्यसमूह के (नेता) सन्मार्ग दर्शक हैं अतः (अद्य) आज (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (परिणूयसे) मन वचन काय से स्तुत हो रहेहैं—मैं मनसा वाचा कर्मणा आपकी स्तुति कर रहा हूं ।।५।।

श्री चन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं
द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं
जितस्वान्तकषायबन्धम् ।।१।।

अन्वयार्थ—मैं (चन्द्रमरीचिगौरं) चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण, (जगति) संसार में (द्वितीय चन्द्र मिव कान्तं) दूसरे चन्द्रमा के समान सुन्दर, (महतां) इन्द्र आदि बड़े बड़े जनों के (अभिवन्द्यं) वन्दनीय, (ऋषीन्द्रं) गणधरादि ऋषियों के स्वामी (जिनं) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले और (१ जित-स्वान्तकषायबन्धम्) अपने विकारी भाव स्वरूप कषाय के बन्धन

१ यहां संस्कृत टीकाकार ने तीन प्रकार के पाठों का उल्लेख किया है जो संस्कृत टीका में दृष्टव्य है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को जीतने वाले (चन्द्रप्रभं) चन्द्रमा के समान कान्ति के धारक चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थंकर को (वन्दे) वन्दना करता हूं ॥१॥

यस्लाङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं
तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च
ध्यान प्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥२॥

अन्वयार्थ—*(यस्य) जिनके (अङ्गलक्ष्मी परिवेषभिन्नं) शरीर सम्बन्धी दिव्य प्रभा मण्डल से विदारित (बहु) बहुत सारा (बाह्यं तमः) बाह्य अन्धकार (च) और (ध्यान प्रदीपातिशयेन) शुक्लध्यान रूपी श्रेष्ठ दीपक के अतिशय से (भिन्नं) विदारित (बहु) बहुत सारा (मानसं तमः) मानसिक अज्ञानान्धकार (तमोरेः) सूर्य की (रश्मिभिन्नं) किरणों से विदारित (तम इव) अन्धकार के समान (ननाश) नष्ट हो गया था ॥२॥

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्तावाक्सिह
नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा
यथा केसरिणो निनादैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (केसरिणः) सिंह की (निनादैः) गर्जनाओं से (मदार्द्रगण्डाः) मद से गीले गण्डस्थलों

---

* २-३-४ श्लोक का क्रिया सम्बन्ध ५ श्लोक से है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के धारक (गजा) हाथी (विमदाः) मद से रहित हो जाते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्य) जिनके (वाक्सिंहनादैः) वचन रूप सिंहनादों के द्वारा (स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः) अपने मत-पक्ष की सुस्थिति के घमण्ड से गर्वीले (प्रवादिनः) प्रवादी जन (विमदाः) गर्व रहित (बभूवुः) हो जाते थे ॥३॥

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं
बभूवाद्भुत कर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः
समन्त दुःखक्षयशासनश्च ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (सर्वलोके) समस्त संसार में (परमेष्ठितायाः) परमाप्तपना के (पदं) स्थान (बभूव) थे (अद्भुत कर्मतेजाः) तीव्रतपश्चरण रूप कार्य से जिनका तेज अद्भुत अचिन्त्य था अथवा समस्त प्राणि समूह को प्रतिबोधित करने रूप कार्य में जिनका केवल ज्ञान रूप तेज आश्चर्य कारक था, (अनन्तधामाक्षर विश्वचक्षुः) अनन्त केवल ज्ञान ही जिनका लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अविनाशी चक्षु था, (च) और जिनका शासन चतुर्गति के दुःखों का क्षय करने वाला था ॥४॥

स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां
विपन्न दोषाभ्रकलङ्कलेपः ।
व्याकोशवाङ् न्याय मयूखमालः
पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—जो (भव्यकुमुद्वतीनां चन्द्रमाः) भव्यजीव रूप कुमुदिनियों को विकसित करने के लिये चन्द्रमा हैं, (विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः) जिनका रागादि दोष रूप मेघकलङ्क का आवरण नष्ट हो गया है, (व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः) जो अत्यन्त स्पष्ट वचनों के न्यायरूप किरणों की माला से युक्त हैं तथा (पवित्रः) कर्ममल से रहित होने के कारण जो अत्यन्त विशुद्ध हैं (सः) वे चन्द्रप्रभ भगवान् (मे) मेरे (मनः) मन को (पूयात्) पवित्र करें ॥५॥

श्री सुविधिजिनस्तवनम्

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्वं
प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना
नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥१॥

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधि नाथ भगवन् ! (त्वया) आपके द्वारा (स्वधाम्ना) अपने ज्ञानरूप तेज से (प्रणीतं) प्रतिपादित (तत्वं) जीवादि पदार्थ (एकान्त दृष्टिप्रतिषेधि) एकान्त दर्शन का निषेध करने वाला है, (प्रमाणसिद्धं) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है तथा (तदतत्वस्वभावम्) तत् और अतत् स्वभाव को लिए है अर्थात् विधि निषेध रूप है। हे भगवन् (एतत्) यह तत्व (त्वदन्यैः) आपसे भिन्न सुगत आदि के द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(समालीढ पदं न) अनुभूत स्थान वाला नहीं है सुगतादि के द्वारा ऐसा तत्व प्रतिपादित नहीं हो सका है ।।१।।

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्
तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नात्यन्तमन्यत्व मनन्यता च
विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।।२।।

अन्वयार्थ– हे सुविधि जिनेन्द्र (तव) आपका (तत्) वह तत्व (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव च स्यात्) तद्रूप ही है (च) और (कथञ्चित्) किसी अपेक्षा से (तदेव न स्यात्) तद्रूप नहीं है क्योंकि (तथा प्रतीतेः) उस प्रकार की प्रतीति होती है। (विधः) विधि (च) और (निषेधस्य) निषेध में (अत्यन्तं) सर्वथा (न अन्यत्वम्) न भिन्नता है (च) और (न अनन्यता) न अभिन्नता है क्योंकि ऐसा मानने से (शून्य दोषात्) शून्यता का दोष आता है ।।२।।

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते र्न
नित्यमन्यत्प्रतिपत्ति सिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग
निमित्त नैमित्तिकयोगतस्ते ।।३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इदं तदेव) यह वही है (इति) इस प्रकार (प्रतीतेः) प्रतीति होने से तत्व (नित्यं) है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अन्य प्रतिपत्तिसिद्धेः) यह अन्य है इस प्रकार प्रतीति होने से (नित्यं न) नित्य नहीं है तथा (ते) आपके मत में (बहिरन्तरङ्ग-निमित्तनैमित्तिकयोगतः) बहिरङ्ग अन्तरङ्ग कारण और कार्य के योग से (तद्) वह नित्यानित्यात्म तत्व (विरुद्धं न) विरुद्ध भी नहीं है ।।३।।

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै
निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ।।४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (पदस्य) सुबन्त तिङन्त रूप शब्द का (वाच्यं) अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय (प्रकृत्या) स्वभाव से ही (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) वृक्ष इस ज्ञान की तरह (अनेकं) अनेक (च) और (एकं) एक दोनों रूप होता है। (आकाङ्क्षिणः) विरोधी धर्म के प्रतिपादन की इच्छा रखने वाले पुरुष के (स्यात् इति निपातः) कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक स्यात् यह शब्द (गुणानपेक्षे) गौण अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले (नियमे) सर्वथा एकान्त रूप कथन में (वै) निश्चय से (अपवादः) बाधक है ।।४।।

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य
ते तद् द्विषतामपथ्यम् ।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां
ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ।।६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (जिनस्य) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले (ते) आपका (इदम्) यह जो (गुणप्रधानार्थम्) गौण और प्रधान अर्थ से युक्त (वाक्यं) वाक्य है (तद्) वह (हि) निश्चय से (द्विषताम्) द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिये (अपथ्य) अनिष्ट है (ततः) इसलिये (साधोः) समस्त कर्मों का क्षय करने के लिये प्रयत्न शील (तव) आपके (पादपद्म) चरण कमल (ज दीश्वराणां) तीनों जगत् के स्वामी इन्द्र चक्रवर्ती तथा धरणेन्द्र के और (ममापि) मुझ समन्त भद्र के भी (अभिवन्द्यं) वन्दनीय हैं ।।५।।

श्री शीतलजिनस्तवनम्

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न
गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ।।१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (मुनेः ते) चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले आप शीतल जिनेन्द्र की (शमाम्बुगर्भाः) शान्तिरूप जल से मिश्रित (अनघवाक्यरश्मयः) निर्दोष वचन रूप किरणें (विपश्चितां) हेयोपादेय तत्व को जानने वाले विद्वानों के लिये (यथा) जिस प्रकार (शिशिराः) शीतल हैं संसार संताप को नष्ट कर शान्ति पहुंचाने वाली हैं तथा उस प्रकार (चन्दनचन्द्ररश्मयः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चन्दन और चन्द्रमा की किरणें (न शीतलाः) शीतल नहीं हैं (गाङ्गमम्भः) गङ्गा नदी का जल (न शीतलं) शीतल नहीं है (च) और (हारयष्टयो न शीतलाः) मोतियों की मालाएँ शीतल नहीं हैं ॥१॥

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो
निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा
भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (विषदाहमोहित) विष रूपी दाह से मूर्च्छित (स्वविग्रहं) अपने शरीर को (भिषक्) वैद्य (मन्त्रगुणैः) मन्त्र के गुणों के द्वारा शान्त करता है उसी प्रकार हे भगवन् ! (त्वं) आपने (सुखाभिलाषानल दाहमूर्च्छितं) वैषयिक सुखों की अभिलाषा रूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित (निजं) अपने (मनः) मन को (ज्ञानमयामृताम्बुभिः) ज्ञानामृत रूप जल के द्वारा (व्यदिध्यपः) शान्त किया था ॥२॥

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजा-
गरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥३॥

अन्वयार्थ—(प्रजाः) लौकिक जन (स्वजीविते) अपने जीवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(च) और (कामसुखे) स्त्री आदि की अभिलाषा से उत्पन्न काम सुख की (तृष्णया) तृष्णा से (दिवा) दिन में (श्रमार्त्ताः) सेवा-कृषि आदि के श्रम से दुखी रहते हैं और (निशि) रात्रि में (शेरते) सो जाते हैं परन्तु (हे आर्य) हे पूज्य शीतल जिनेन्द्र ! (त्वम्) आप (नक्तंदिवम्) रात दिन (अप्रमत्तवान्) प्रमाद रहित हो (आत्मविशुद्ध वर्त्मनि) आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शनादिरूपमार्ग में (अजागः एव) जागते ही रहे हैं ।।३।।

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः
केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं
प्रवृत्ति समधीरवारुणत् ।।४।।

अन्वयार्थ—(केचन) कितने ही (तपश्विनः) अग्नि होतृ आदि, दयनीय प्राणी अथवा व्रती जन (अपत्यवित्तोत्तरलोक तृष्णया) सन्तान, धन तथा उत्तरलोक–परलोक या उत्कृष्टलोक की तृष्णा से (कर्म) अग्निहोम आदि कार्य (कुर्वते) करते हैं (पुनः) किन्तु (भवान्) आपने (समधीः) सम बुद्धि होकर (जन्मजराजिहासया) जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से (त्रयीं प्रवृत्ति) मन वचन काय की प्रवृत्ति को (अवारुणत्) रोका है अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र रूप भेदरत्नत्रय को दूर कर शुद्ध आत्मस्वरूप की लीनता रूप अभेद रत्नत्रय को अङ्गीकृत किया है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः
क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन
शीतलेड्यसे ॥५॥

अन्वयार्थ—(हे शीतल जिन) हे शीतल जिनेन्द्र ! (उत्तमज्योतिः) केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट ज्योति से सहित (अजः) पुनर्जन्म से रहित और (निर्वृतः) सुखी भूत (त्वम्) आप (क्व) कहां और (बुद्धिलवोद्धवक्षताः) ज्ञान के लेशमात्र से उत्पन्न गर्व से नष्ट (ते परे) वे हरि हर हिरण्यगर्भ आदि अन्य देवता (क्व) कहां ? दोनों में महान् अन्तर है (ततः) इसीलिये (स्वनिःश्रेयसभावनापरैः) आत्मकल्याण की भावना में तत्पर (बुधप्रवेकैः) श्रेष्ठविद्वानों–गणधरादिक श्रेष्ठ ज्ञानियों के द्वारा (ईड्यसे) आप स्तुत हो रहे हैं–आपकी स्तुति की जा रही है ।

श्री श्रेयोजिनस्तवनम्

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको
यथा वीतघनो विवस्वान् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अजेयवाक्यः) अबाधित वचनों से युक्त (श्रेयान् जिनः) हे श्रेयो जिन ! (इमाः प्रजाः)इन संसारी जनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को (श्रेयसि वर्त्मनि) कल्याणकारी मोक्ष मार्ग में (श्रेयः शासत्) हित का उपदेश देते हुए (भवान्) आप (अस्मिन् भुवनत्रये) इन तीनों लोकों में (एकः) अकेले ही (वीतघनः) मेघों के आवरण से रहित (विवस्वान् यथा) सूर्य के समान (चकाशे) प्रकाशमान हुए हैं।

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः
प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।
गुणोऽपरो मुख्य नियामहेतुर्नयः
स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥२॥

अन्वयार्थ—हे श्रेयोजिन ! (ते) आपके मत में (विषक्त प्रतिषेधरूपः) जिसमें कथंचित् पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व रूप भी तादात्म्यसम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा (विधिः) स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व (प्रमाणं) प्रमाण का विषय है। (अत्र) इन विधि और प्रतिषेध में (अन्यतरत्) एक (प्रधानम्) प्रधान है और (अपरः) दूसरा (गुणः) अप्रधान है। यहां (मुख्य नियामहेतुः) मुख्य के नियम का जो हेतु है (नयः) वह नय है तथा (सः) वह नय (दृष्टान्त समर्थनः) दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है ॥२॥

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधेः
कार्यकरं हि वस्तु ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् (ते) आपके मत में (विवक्षितः) विवक्षित पदार्थ (मुख्य इतीष्यते) मुख्य कहलाता है और (अन्यः) दूसरा—अविवक्षित पदार्थ (गुणः) गौण कहलाता है। (अविवक्षः) जो पदार्थ अविवक्षित है वह (निरात्मकः न) अभावरूप नहीं है (तथा) मुख्य और गौण की इस विधि से (वस्तु) पदार्थ अरिमित्रानुभयादि शक्ति) शत्रु मित्र और अनुभय आदि शक्तियों से युक्त होती है (हि) निश्चय से समस्त पदार्थों की (द्वयावधिः) भाव अभाव अथवा द्रव्य और पर्याय रूप मर्यादा है और उसी मर्यादा का आश्रय कर वस्तु (कार्यंकरं) कार्यकारी होती है ॥३॥

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं
प्रसिद्ध्येन्नतु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामिदृष्टं
त्वदीय दृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥४॥

अन्वयार्थ—(उभयोः) वादी और प्रतिवादी के (विवादे) विवाद में (दृष्टान्त सिद्धौ) उदाहरण की सिद्धि होने पर (साध्यं) साध्य (प्रसिद्धयेत्) अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है (तु) परन्तु (तादृक् न दृष्टं अस्ति) वैसी दृष्टान्त भूत कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है (यत्) जो (सर्वथैकान्तनियामि) सर्वथा एकान्तवाद का नियमन करने वाली हो क्योंकि (त्वदीयदृष्टिः) आपका अनेकान्तमत (अशेषे) समस्त-साध्य, साधन और दृष्टान्त में (विभवति) अपना प्रभाव डाले हुए है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्याय-
येषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्
ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५॥

अन्वयार्थ—हे श्रेयो जिनेन्द्र ! (एकान्तदृष्टि प्रतिषेधसिद्धि) एकान्तदृष्टि के निषेध की सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्याय रूप बाणों के द्वारा होती है अर्थात् आपने न्याय रूप बाणों के द्वारा सर्वथा एकांत वादियों का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है और (यतः) जिस कारण आप (मोहरिपुं) अज्ञान रूपी शत्रु अथवा मोहनीय कर्म से युक्त ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों को (निरस्य) नष्ट कर (कैवल्यविभूतिसम्राट्) केवलज्ञान रूप विभूति अथवा समवसरणादि रूप लक्ष्मी के सम्राट् (असि स्म) हुए हैं (ततः) इस कारण (अर्हन्) हे अर्हन्त (त्वम्) आप (मे) मेरे (स्तवार्हः) स्तवन के योग्य (असि) हैं अर्थात् मैं आपकी स्तुति करता हूं ।

श्री वासुपूज्यजिनस्तवनम्

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र !) हे गणधरादि मुनियों के स्वामी ! (शिवासु) कल्याणकारिणी (अभ्युदयक्रियासु) स्वर्गावतरण आदि कल्याणकों की क्रियाओं में (पूज्यः) पूज्य (वासुपूज्यः) वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले (त्वम्) आप चूंकि (त्रिदशेन्द्रपूज्यः) इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूज्य हैं अतः (अल्पधिया) अल्पबुद्धि के धारक (मयापि) मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी (पूज्यः) पूज्य हैं (किं) क्या (दीपार्चिषा) दीपशिखा के द्वारा (तपनः) सूर्य (न पूज्यः) पूजनीय नहीं होता ।।१।।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न
निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।२।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! यद्यपि (वीतरागे) राग से रहित (त्वयि) आप में (पूजया) पूजा के द्वारा (अर्थः न) प्रयोजन नहीं है और (विवान्त वैरे) वैर से रहित आपमें (निन्दया) निन्दा के द्वारा (अर्थः न) मतलब नहीं है (तथापि) तो भी (ते) आपके (पुण्यगुणस्मृतिः) प्रशस्त गुणों का स्मरण (नः) हमारे (चित्तं) मन को (दुरिताञ्जनेभ्यः) पाप रूपी अञ्जन से (पुनातु) पवित्र करें-दूर रक्खें ।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न
दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ । ३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (पूज्यं) इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा (जिनं) कर्म रूप शत्रुओं को जीतने वाले (त्वा) आपकी (अर्चयतः) पूजा करने वाले (जनस्य) मनुष्य के जो (सावद्यलेशः) सरागपरिणति अथवा आरम्भादिजनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह (बहुपुण्यराशौ) बहुत भारी पुण्य की राशि में (दोषाय) दोष के लिये (अलं न) समर्थ नहीं है क्योंकि (विषस्य) विष की (कणिका) अल्पमात्रा (शीतशिवाम्बुराशौ) शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में (दूषिका न) दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है ।

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते
निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं
केवलमप्यलं ते ।।४।।

अन्वयार्थ—(यद् वस्तु) जो पुष्पादिक पदार्थ (गुणदोषसूतेः) पुण्य और पाप की उत्पत्ति के ((बाह्यं) बहिरङ्ग (निमित्तं) कारण हैं (तद्) वह (अध्यात्मवृत्तस्य) आत्मा में प्रवर्तने वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अभ्यन्तरमूल हेतोः) अन्तरङ्ग—उपादानरूप मूलकारण का (अङ्गभूतं) सहकारी कारण है। हे भगवन्! (ते) आपके मत में (अभ्यन्तर) अन्तरङ्ग कारण (केवलमपि) बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार का (अलं) गुण दोष की उत्पत्ति में समर्थ है ॥४॥

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु
ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां
तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (कार्येषु) घट आदि कार्यों में (इयं) यह जो (बाह्येतरोपाधिसमग्रता) बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है वह (ते) आपके मत में (द्रव्यगतः) जीवादि द्रव्य गत (स्वभावः) स्वभाव है (अन्यथा) अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं किन्तु (पुंसां) मोक्षाभिलाषी पुरुषों के (मोक्षविधिश्च) मोक्ष की विधि भी (नैव) घटित नहीं होती है (तेन) इसीलिये (ऋषि) परम ऋद्धियों से युक्त (त्वम्) आप (बुधानां) गणधरादि बुधजनों के (अभिवन्द्यः) वन्दनीय हैं ॥५॥

卐

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री विमलजिनस्तवनम्

य एव नित्यक्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्वं विमलस्य ते मुनेः
परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥१॥

अन्वयार्थ—(ये एव) जो ही (नित्यक्षणिकादयः नयाः) नित्य अथवा क्षणिक आदि नय (मिथोऽनपेक्षाः) परस्पर में निरपेक्ष होकर अन्यमतों में (स्वपरप्रणाशिनः) निज और पर का नाश करने वाले हैं (ते एव नयाः) वे ही नय (परस्परेक्षाः) परस्पर की अपेक्षा रखते हुए (स्वपरोपकारिणः) निज और पर का उपकार करने वाले होकर (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी (ते) आप (विमलस्य) विमल जिनेन्द्र के मत में (तत्वं) वस्तु स्वरूप (भवन्ति) होते हैं ॥१॥

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य
शेषं स्वसहायकारकम् ।
तथैव सामान्यविशेषमातृका
नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकशः) एक एक (कारकम्) उपादानकारण या निमित्तकारण (स्वसहायकारकं) अपनी सहायता करने वाले (शेषं) अन्य कारक की (समीक्ष्य)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अच्छी तरह अपेक्षा करके (अर्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ होता है (तथैव) उसी प्रकार (सामान्य विशेषमातृका) सामान्य और विशेष से उत्पन्न अथवा सामान्य और विशेष को जानने वाले एवं (गुणमुख्यकल्पतः) गौण और मुख्य की कल्पना से (तव) आपको (इष्टाः) अभिप्रेत (नयाः) नय (अर्थ सिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ हैं ।।२।।

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः
प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।
समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा
प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।।३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यथा) जिस प्रकार (भुवि) पृथिवी पर (स्वपरावभासकं) स्व और पर को प्रकाशित करने वाला (बुद्धिलक्षणं) ज्ञानरूप लक्षण से युक्त (प्रमाणं) प्रमाण प्रसिद्ध है (तथा) उसी प्रकार (तव) आपके मत में (परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः) परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद के ज्ञान से (प्रसिद्धसामान्यविशेषयोः) प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की (समग्रता) पूर्णता (अस्ति) विद्यमान् है ।।३।।

विशेष्यवाच्यस्य[१] विशेषणं वचो
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते
विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ।।४।।

१ विशेष वाक्यस्य (मूले) क. ख.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ— हे भगवन् ! (विशेष वाच्यस्य) वाच्यभूत विशेष का (तत्) वह (वचः) वचन (यतः) जिससे (विशेष्यं) विशेष्य (विनियम्यते) नियमित किया जाता है (विशेषणं) विशेषण कहलाता है (च) और (यत्) जो (विनियम्यते) नियमित होता है (तत्) वह (विशेष्यं) विशेष्य कहलाता है (च) और (तयोः) उन विशेषण और विशेष्य में यद्यपि (सामान्य मतिप्रसज्यते) सामान्य का प्रसङ्ग आता है परन्तु (ते) आपके मत में (स्यादिति) कथंचित् अर्थ के वाचक स्यात् पद के द्वारा (विवक्षितात्) विवक्षित विशेषण विशेष्य से (अन्यवर्जनम्) अविवक्षित विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है ॥४॥

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता
रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (यतः) चूंकि (स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः) स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित (तव) आपके (नयाः) नय (रसोपविद्धाः) रस से अनुलिप्त (लोहधातवः इव) लोहधातुओं के समान (अभिप्रेत गुणाः) इष्ट गुणों से युक्त पक्ष में सुवर्णआदि इष्ट पदार्थ के गुणों से युक्त (भवन्ति) होते हैं (ततः) इसलिये (हितैषिणः) हित के इच्छुक (आर्याः) गणधर आदि उत्तम पुरुष (भवन्तं) आपके प्रति (प्रणताः) नम्रीभूत है ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अनन्तजिनस्तवनम्

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अनन्त दोषाशयविग्रहः) जिसका शरीर अनन्त रागादि दोषों का आधार तथा जो (चिरं) चिरकाल से (हृदि) हृदय में (विषङ्गवान्) संलग्न था अथवा ममता भाव से सहित था ! ऐसा (मोहमयः) मोह रूप (ग्रहः) पिशाच (तत्वरुचौ) तत्व श्रद्धा में (प्रसीदता) प्रसन्न रहने वाले (त्वया) आपके द्वारा (यतः) क्योंकि (जितः) जीत लिया गया था (ततः) इस-लिये आप (भगवान्) भगवान् (अनन्तजित्) अनन्तजित् इस सार्थक नामको धारण करने वाले (अभूः) हुए हैं ॥१॥

कषायनाम्नां द्विषतां
प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथ दुर्मदामयं
समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (प्रमाथिनाम्) दुःख देने वाले (कषायनाम्नां द्विषताम्) कषाय नामक शत्रुओं के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(नाम) नाम को हृदय में (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (अशेषवित्) सर्वज्ञ हुए हैं तथा आपने (समाधिभैषज्यगुणैः) ध्यान रूप औषधि के गुणों के द्वारा (विशोषणं) संताप कारक (मन्मथदुर्भदामयं) कामदेव के दुष्ट दर्प रूपी रोग को (व्यलीनयन्) विलीन किया है—नष्ट किया है ॥२॥

परिश्रमाम्बुर्भयवीचि मालिनी त्वया
स्वतृष्णासरिदार्य ! शोषिता ।
असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा परं
ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(परिश्रमाम्बुः) जिसमें परिश्रम रूप जल भरा है, और (भयवीचिमालिनी) भयरूप तरङ्गों की मालाएं उठ रही हैं, ऐसी (स्वतृष्णासरित्) अपनी भोगाकांक्षारूप नदी (हे आर्य) हे पूज्य (त्वया) आपके द्वारा (असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा) निष्परिग्रहतारूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से (शोषिता) सुखा दी गई है (ततः) इसलिये (परम्) उसके आगे विद्यमान (निर्वृतिधाम) निर्वाणस्थान (तावकम्) आपका ही है अथवा आपका अनन्तज्ञानादितेज अत्यन्त उत्कृष्ट है ॥३॥

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते
द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो
परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ– हे भगवन् ! (त्वयि सुहृद्) आपमें उत्तम हृदय को रखने वाला-भक्त पुरुष (श्री सुभगत्व) लक्ष्मी के वल्लभपने को (अश्नुते) प्राप्त होता है और (त्वयि द्विषन्) आपमें द्वेष रखने वाला– अभक्त पुरुष (प्रत्ययवत्) व्याकरण के प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान के समान (प्रलीयते) नष्ट हो जाता है– चतुर्गति के दुःखों का अनुभव करता है परन्तु (भवान्) आप (तयोरपि) उन दोनों-भक्त और अभक्त पुरुषों के विषय में (उदासीनतमः) अत्यन्त उदासीन हैं– रागद्वेष से रहित हैं (प्रभो) हे स्वामिन् ! (तव) आपकी (इदम् ईहितं) यह चेष्टा (परं चित्रम्) अत्यन्त आश्चर्यंकारी है ।।४।।

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने !
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय
संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ।।५।।

अन्वयार्थ–(महामुने !) हे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले मुनिनाथ ! (त्वम्) आप (ईदृशः) ऐसे हैं (तादृशः) वैसे हैं (इति) इस प्रकार का (अयं) यह (मम अल्पमतेः) मुझ अल्प बुद्धि का (प्रलापलेशः) थोड़ा सा प्रलाप (अशेषमाहात्म्यं) आपकी समस्त महिमा को (अनरियन्नपि) न कहता हुआ भी (अमृताम्बुधः) सुधासागर के (संस्पर्श इव) समीचीन स्पर्श के समान (शिवाय मोक्ष के लिये है–मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारणहै ।।५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री धर्मजिनस्तवनम्

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म
इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म
शाश्वतमवाप शङ्करः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनघ) निर्दोष (धर्मतीर्थं) धर्म रूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाले आगम को (प्रवर्तयन्) प्रवरताते हुए (भवान्) आप (सतां) गणधरदेवादि विद्वानों के द्वारा (धर्मः) धर्म इस सार्थक नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं। आपने (तपोऽग्निभिः) तप रूपी अग्नियों के द्वारा (कर्मकक्षम्) कर्मरूपी वन को (अदहत्) जलाया है तथा (शाश्वतं) अविनाशी (शर्म) सुख (अवाप) प्राप्त किया है इसलिये आप सत्पुरुषों के द्वारा (शङ्करः) शङ्कर इस नाम से युक्त (अनुमतः) माने गये हैं ॥१॥

देवमानवनिकायसत्तमैरेजिषे
परिवृतो वृतो बुधैः ।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव
शशलाञ्छनोऽमलः ॥२॥

अन्वयार्थ—हे धर्मजिन ! (देवमानवनिकायसत्तमैः) देव और मनुष्य समूह में अत्यन्त श्रेष्ठ भव्य जीवों के द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(परिवृतः) चारों ओर से वेष्टित तथा (बुधैः) गणधरादि विद्वानों से (वृतः) घिरे हुए आप (व्योमनि) आकाश में (तारकापरिवृतः) ताराओं से परिवेष्टित (अमलः) घनपटलादि मल से रहित (अतिपुष्कलः) संपूर्ण (शशलाञ्छन इव) चन्द्रमा के समान (रेजिषे) सुशोभित हुए थे ॥२॥

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो
देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्
नापि शासनफलैषणातुरः ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (प्रातिहार्यविभवैः) सिंहासनादि प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियों से (परिष्कृतः) विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे किन्तु (देहतोऽपि) शरीर से भी (विरतः) ममत्व रहित (अभूत्) थे तथा आपने (नरामरान्) मनुष्यों और देवों को (मोक्षमार्गम्) मोक्षमार्ग का (अशिषत्) उपदेश दिया था फिर भी आप (शासनफलैषणातुरः) उपदेश के फल की इच्छा से आतुर-व्यग्र (नापि अभूत्) नहीं हुए थे ॥३॥

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो
नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (तव) आप (मुनेः) प्रत्यक्षज्ञानी के (कायवाक्यमनसां) काय वचन और मन की (प्रवृत्तयः) चेष्टाएं (चिकीर्षया) करने की इच्छा से (न अभवन्) नहीं हुई तथा (भवतः) आपकी (प्रवृत्तयः) प्रवृत्तियां—चेष्टाएँ (असमीक्ष्य) वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना (न अभवन्) नहीं हुई। (हे धीर) परिषहादिक तथा अन्यमतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले हे धीर वीर धर्मजिनेन्द्र ! (तावक) आपका (ईहितं) चरित (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय है आश्चर्य करने वाला है ॥४॥

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्
देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ परमासि देवता
श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥५॥

अन्वयार्थ— हे भगवन् ! (यतः) चूंकि आप (मानुषीं प्रकृतिं) मानव स्वभाव को अतिक्रान्त कर गये हैं (च) और (देवतास्वपि) इन्द्र चन्द्र आदि देवों में भी (देवता) देवता हैं, पूज्य हैं (तेन) इसलिये (हे नाथ) हे स्वामिन् ! आप (परमा देवता असि) उत्कृष्ट देवता हैं (हे जिनवृष) हे जिनेन्द्र ! (नः) हमारे (श्रेयसे) कल्याण के लिये (प्रसीद) प्रसन्न हूजिये ॥५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री शान्तिजिनस्तवनम्

विधाय रक्षां परतः प्रजानां
राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मु-
निर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो शान्तिजिनेन्द्र (परतः) शत्रुओं से (प्रजानां) प्रजाजनों की (रक्षां विधाय) रक्षा कर (चिरं) चिरकाल तक पहले (अप्रतिम प्रतापः) अतुल्य पराक्रमी (राजा) राजा हुए और (पुरस्तात्) फिर (स्वत एव) स्वयं ही (मुनिः) मुनि होकर जिन्होंने (दयामूर्तिरिव) दया की मूर्ति की तरह (अघशान्ति) पापों को शान्ति (व्यधात्) की ॥१॥

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा
नृपः सर्वं नरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय
महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(महोदयः) गर्भावतरण आदि कल्याणकों की परम्परा से युक्त (यः) जो शान्ति जिनेन्द्र गृहस्थावस्था में (शत्रुभयंकरेण) शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले (चक्रेण) सुदर्शन चक्र के द्वारा (सर्वंनरेन्द्रचक्रं) समस्त राजाओं के समूह को (जित्वा) जीतकर (नृपः) चक्रवर्ती हुए और (पुनः) पश्चात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीतरागावस्था में जिन्होंने (समाधिचक्रेण) ध्यानरूप चक्र के द्वारा (दुर्जयमोहचक्रं) कठिनाई से जीतने योग्य मोहनीय कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियों के समूह को (जिगाय) जीता था ॥२॥

राजश्रिया राजसु राजसिंहो
रराज यो राजसुभोगतन्त्रः।
आर्हन्त्य लक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो
देवासुरोदारसभे रराज ॥३॥

अन्वयार्थ—(राजसिंहः) राजाओं में श्रेष्ठ तथा (राजसुभोगतन्त्रः) राजाओं के उत्तम भोगों के आधीन अथवा राजाओं के उत्तम को स्वाधीन रखने वाले (यः) जो शान्ति जितेन्द्र सराग अवस्था में (राजसु) राजाओं के बीच (राजश्रिया) नौनिधि तथा चौदह रत्नों से युक्त राजलक्ष्मी के द्वारा (रराज) सुशोभित हुए थे और (पुनः) पश्चात् वीतरागावस्था में (आत्मतन्त्र.) आत्माधीन होते हुए (देवासुरोदारसभे) देव और धरणेन्द्रादिकों की महती सभा में (अर्हन्त्यलक्ष्म्या) अष्ट प्रतिहार्य रूप बाह्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग विभूति से (रराज) सुशोभित हुए थे ॥३॥

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ
दयादीधिति धर्मचक्रम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिन शान्तिनाथ भगवान् के (राजनि 'सति') राजा होने पर (राजचक्रं) राजाओं का समूह (प्राञ्जलि) बद्धाञ्जलि (अभुत्) हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ 'सति') मुनि होने पर (दयादीधिति) दयारूप किरणों से युक्त अथवा दया को प्रकाशित करने वाला (धर्म चक्रं) उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह (प्राञ्जलि) अपने आधीन हुआ था अथवा जिन शान्तिनाथ भगवान् के (मुनौ) समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवल ज्ञानी होने पर (दयादीधिति) दया रूप किरणों से युक्त (धर्मचक्रं) देवरचित धर्मचक्र (प्राञ्जलि) अपने आधीन हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के पूज्य होने पर—समवसरण में स्थित होकर धर्मोपदेशक होने पर (देवचक्रं) देवों का समूह (मुहुः) वारवार (प्राञ्जलि) बद्धाञ्जलि हुआ था और जिन शान्तिनाथ भगवान् के (ध्यानोन्मुखे) व्युपरत-क्रियानिवृति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सन्मुख होने पर (ध्वंसि) क्षय को प्राप्त होता हुआ (कृतान्त चक्रं) कर्मों का समूह (प्राञ्जलि) शरण की भिक्षा के लिये बद्धाञ्जलि हुआ था ॥४॥

स्वदोषशान्त्याविहितात्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणंगतानाम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो
मे भगवान् शरण्यः ॥५॥

अन्वयार्थ—(स्वदोषशान्त्या) अपने रागादि दोषों की शान्ति से (विहितात्मशान्तिः) जिन्हें आत्मशान्ति की प्राप्ति हुई है, जो (शरणं गतानां) शरण में आये हुए जीवों को (शान्तेर्विधाता) शान्ति के करने वाले हैं, जो (जिनः) कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, (भगवान्) विशिष्टज्ञान अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित हैं तथा (शरण्यः) शरण देने में निपुण हैं (सः) वे (शान्तिः) शान्तिनाथ जिनेन्द्र (मे) मेरे (भवक्लेशभयोपशान्त्यै) संसारपरिभ्रमण, क्लेशों और भयों की शान्ति के लिये (भूयात्) हों ॥५॥

श्री कुन्थुजिनस्तवनम्

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्वदयैकतानः
कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसिस्म भूत्यै
भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ॥१॥

अन्वयार्थ—(कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्वदयैकतानः) कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक-मुख्य विस्तार करने वाले (कुन्थुः जिनः) कुन्थु नाथ जिनेन्द्र थे। हे भगवन् (त्वं) आपने (पुरा) पहले गृहस्थावस्था में (भूत्यै) राजविभूति के निमित्त (क्षितिपतीश्वर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चक्रपाणिः) राजाधिराज चक्रवर्ती (भूत्वा) होकर पश्चात् (इह) इस संसारमें (ज्वरजरामरणोपशान्त्यै) समस्तरोग, बुढ़ापा और मरण के विनाश से युक्त (भूत्यै) मोक्ष लक्ष्मी के लिये (धर्मचक्रं) धर्म के समूह को अथवा देवरचित धर्मचक्रनामक अतिशय विशेष को (वर्तयसि स्म) प्रवर्तित किया है ।।१।।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न
शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान्
विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ।।२।।

अन्वयार्थ—(तृष्णार्चिषः) विषयकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाएं (परिदहन्ति) इस जीव को सब ओर से जला रही हैं, (इष्टेन्द्रियार्थविभवैः) इष्ट इन्द्रियों के विषयों से (आसां) इन विषयाकांक्षा रूप अग्नि की ज्वालाओं की (न शान्तिः) शान्ति नहीं होती किन्तु (परिवृद्धिरेव) सब ओर से वृद्धि ही होती है। यह वृद्धि (स्थित्यैव) इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है (निमित्तं) निमित्त कारण (काय परितापहरं) मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है विषयाकांक्षा रूप अग्निज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता। हे भगवन् ! (इति) यह सब विचार कर ही (आत्मवान्) जितेन्द्रिय होते हुए आप (विषयसौख्यपराङ्मुखः) विषय जन्य सुख से पराङ्मुख अभूत हुए हैं ।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरं-
स्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरेऽस्मिन्
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।।३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् (त्वम्) आपने (आध्यात्मिकस्य) अन्तरङ्ग (तपसः) तप को (परिवृंहणार्थम्) वृद्धि के लिये (परम दुश्चरं) अत्यन्त कठिन (बाह्यंतपः) अनशनादि बाह्य तप का (आचरः) आचरण किया था तथा (कलुषद्वयं) आर्त्त-रौद्र रूप दो खोटे (ध्यानं) ध्यानोंको (निरस्य) छोड़कर आप (अतिशयोपपन्ने) उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित (उत्तरस्मिन्) आगे के (ध्यानद्वये) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में (ववृतिषे) स्थिर हुए थे ।।३।।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः ।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा
वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ।।४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतीः) अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को (रत्नत्रयातिशयतेजसि) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्रकृष्टता रूप अग्नि में (हुत्वा) होम कर (जातवीर्यः) आप सामर्थ्यवान् अनन्तवीर्य से युक्त तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सकलवेदविधेः) समस्त लोकालोक विषयक ज्ञान के विधायक परमागम के (विनेता) प्रणता होकर (तथा) उस तरह (बभ्राजिषे) देदीप्यमान हुए यथा जिस तरह कि (व्यभ्रे) मेघ रहित (वियति) आकाश में (दीप्तरुचिः) देदीप्यमान किरणों से युक्त (विवस्वान्) सूर्य ।।४।।

यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या
विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं
स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ।।५।।

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र) हे यतिनाथ ! (यस्मात्) चूंकि (लोकपितामहाद्याः) ब्रह्मा आदि लौकिक देवता (तव) आपकी (विद्याविभूति कणिका मपि) केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरण रूप विभूति के एक मात्र को भी (न अप्नुवन्ति) नहीं प्राप्त करते हैं (तस्मात्) इसलिये (सुधियः) उत्तम बुद्धि के धारक (स्वहितैकतानाः) एक आत्महित में निमग्न-मोक्ष के अभिलाषी (आर्याः) गणधरादिदेव (अजं) जन्म से रहित, (अप्रतिमेयं) अपरिमित-अनन्त तथा (स्तुत्यं) स्तुति के योग्य (भवन्तं) आपकी (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं ।।५।।

卐

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अरजिनस्तवनम्

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य, तद्बहुत्वकथास्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तु-मशक्या-स्त्वयि सा कथम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(सद्) विद्यमान (गुणस्तोकं) अल्प गुणों का (उल्लङ्घ्य) उल्लङ्घन कर (तद्बहुत्व कथा) उन गुणों की अधिकता का कथन करना (स्तुतिः) स्तुति कहलाती है परन्तु (आनन्त्यात्) अनन्त होने के कारण (ते) आपके (गुणाः) गुण (वक्तुमशक्याः) कहने के लिये अशक्य है अतः (त्वयि) आपके विषय में (सा) वह स्तुति (कथं) किस प्रकार संभव है ॥१॥

तथापि ते मुनीन्द्रस्य, यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्य-कीर्तेर्न-स्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

अन्वयार्थ—यद्यपि आपके गुणों की स्तुति अशक्य है (तथापि) तो भी (पुण्यकीर्ते) प्रशस्त यश वाणी अथवा ख्याति के धारक तथा (मुनीन्द्रस्य) गणधरादि मुनियों के स्वामी (ते) आपका (कीर्तितं) उच्चरित (नामापि) नाम भी (यतः) चूंकि (नः) हमें (पुनाति) पवित्र करता है (ततः) इसलिये (किञ्चन) कुछ (ब्रूयाम) कहते हैं ॥२॥

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षो-श्चक्र-लाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृण-मिवाभवत् ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) लक्ष्मी की विभूति रूप सर्वस्व से युक्त तथा (चक्रलाञ्छनं) सुदर्शनचक्र रूप चिह्न से सहित (सार्व भौमं) समस्त पृथिवी सम्बन्धी जो (ते) आपका (साम्राज्यं) साम्राज्य था वह (मुमुक्षोः) मोक्ष के इच्छुक होने पर आपके लिये (जरत्तृणमिव) जीर्ण तृण के समान (अभवत्) हो गया था ॥३॥

तव रूपस्य सौन्दर्यं, दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्वचक्षः शक्रः सहस्राक्षो, बभूव बहु-विस्मयः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपके (रूपस्य) शरीर सम्बन्धी रूप की (सौन्दर्यं) सुन्दरता को (दृष्ट्वा) देख कर (तृप्ति) संतोष को (अनापिवान्) प्राप्त न होने वाला (द्वचक्षः) दो नेत्रों का धारक (शक्रः) इन्द्र (बहु विस्मयः) बहुत भारी आश्चर्य से युक्त (सहस्राक्षः) एक हजार नेत्रों का धारक (बभूव) हुआ था ॥४॥

मोहरूपो रिपुः पापः, कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संपदुपेक्षाऽस्त्रै—स्त्वया धीर ! पराजितः ॥५॥

अन्वयार्थ—(हे धीर) परिषहादि से जिनका चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ऐसे हे अर जिनेन्द्र ! (त्वया) आपने (पापः) पाप रूप तथा (कषायभट साधनः) कषायरूप योद्धाओं की सेना से सहित (मोहरूपो रिपुः) मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को (दृष्टि संपदु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पेक्षास्त्रैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप शस्त्रों के द्वारा (पराजितः) पराजित किया है ॥५॥

कन्दर्पस्योद्धरो[1] दर्प-स्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे, त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्य विजयार्जितः) तीनों लोकों की विजय से उपार्जित (कंदर्पस्य) कामदेव के (उद्धरः) उत्कट—बहुत भारी (दर्पः) गर्व ने (धीरे) धीर वीर (त्वयि) आपके विषय में (प्रतिहतोदयः सन्) खण्डित प्रसर हो (तं) कामदेव को (ह्रेपयामास) लज्जित किया था ॥६॥

आयत्यां च तदात्वे च, दुःख-योनि-र्निरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा, विद्या-नावा विविक्तया ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (आयत्यां च तदात्वे च) जो परलोक तथा इस लोक-दोनों ही जगह (दुःखयोनिः) दुःखों की उत्पत्ति का कारण है तथा (दुरुत्तरा) जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी (तृष्णा नदी) तृष्णा रूपी नदी (त्वया) आपने (विविक्तया) निर्दोष (विद्यानावा) विद्यासम्यग्ज्ञान रूपी नौका के द्वारा (उत्तीर्णा) पार की है ॥७॥

अन्तकः क्रन्दको नृणां, जन्म-ज्वर-सखः सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य, व्यावृत्तः काम-कारतः ॥८॥

१ कन्दर्पस्योद्धुरो ख० (मूले)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (जन्मज्वर सखः) पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगों का मित्र और (सदा) हमेशा (नृणां क्रन्दकः) मनुष्यों को रुलाने वाला (अन्तकः) यम (अन्तकान्तकं) यम का अन्त करने वाले (त्वाम्) आपको (प्राप्य) प्राप्त कर (कामकारतः) अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से (व्यावृत्तः) उपरत हुआ है ॥८॥

भूषा-वेषायुध-त्यागि, विद्या-दम-दया-परम् ।
रूपमेव तवाचष्टे, धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(धीर !) हे धीर ! अरजिनेन्द्र ! (भूषावेषायुधत्यागि) आभूषणों, वेषों तथा शस्त्र का त्याग करने वाला तथा (विद्यादमदयापरम्) ज्ञान इन्द्रिय दमन और दया में तत्पर (तव) आपका (रूपमेव) रूप ही (दोषविनिग्रहं) रागादि दोषों के अभाव को (आचष्टे) कहता है ॥९॥

समन्ततोऽङ्ग-भासां ते, परिवेषण भूयसा ।
तमो बाह्य-मपाकीर्ण-मध्यात्मं ध्यान-तेजसा ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (समन्ततः) सब ओर फैलने वाले (ते) आपके (अङ्गभासां) शरीर सम्बन्धी प्रभाओं के (भूयसा) विशाल (परिवेषेण) मण्डल के द्वारा (बाह्यं) बाह्य (तमः) अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है और (ध्यानतेजसा) ध्यान रूप तेज के द्वारा (अध्यात्मं) ज्ञानावरणादि कर्म रूप अन्तरङ्ग का अन्धकार (अपाकीर्णं) नष्ट हुआ है ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वज्ञ-ज्योतिषोद्भूत स्तावको महिमोदयः ।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते, सत्वं नाथ ! सचेतनम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे अर नाथ जिनेन्द्र ! (सर्वज्ञज्योतिषा) समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञान रूपी ज्योति से (उद्भूतः) उत्पन्न हुआ (तावकः) आपकी (महिमोदयः) महिमा का उत्कर्ष (कं) किस (सचेतनं) गुणदोष के विचार में चतुर (सत्वं) प्राणी को (प्रणम्रं) नम्रीभूत (न कुर्यात्) नहीं कर देता है ?— सब को कर देता है ॥११॥

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (श्रीमत्) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने रूप लक्ष्मी सहित, (सर्वभाषास्वभावकम्) समस्त भाषाओं रूप परिणमन करने वाले स्वभाव से युक्त तथा (संसदि) समवसरण सभा में (व्यापि) व्याप्त होने वाला (तव) आपका (वागमृतं) वचन रूप अमृत (अमृतं यद्वत्) अमृत के समान (प्राणिनः) प्राणियों को (प्रीणयति) संतुष्ट करता है ॥१२॥

अनेकान्तात्म दृष्टिस्ते, सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपकी (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकान्त रूप दृष्टि (सती) सत्यार्थ है उससे (विपर्ययः) विपरीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्तमत (शून्यः) शून्यरूप असत् है (ततः) इसलिये (तदयुक्तं) उस अनेकान्त दृष्टि से रहित (सर्वं) सब (उक्त) कथन (स्वघाततः) स्वघातक होनें से (मृषा) मिथ्या रूप है। अथवा (ततः) एकान्तमत के आश्रय से (उक्त) कहा हुआ (सर्वं) समस्त वस्तुस्वरूप (मृषा) असत्य है तथा (स्वघाततः) स्व घातक होनें से (तद्) वह (अयुक्तं) अनुचित है ॥१३॥

ये पर-स्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभ-निमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो एकान्त वादी (परस्खलितोन्निद्राः) पर—अनेकान्तमत में स्खलित-विरोध आदि दोषों के देखने में उन्निद्र—जागृत रहते हैं और (स्वदोषेभनिमीलिनः) स्व-अपने सदेकान्त आदि एकान्त में दोष—स्वघातत्त्व आदि दोषों के विषय में इभ निमलिन—गज निमीलन से युक्त हैं अर्थात् उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते हैं (ते) वे (तपस्विनः) बेचारे (किं कुर्युः) क्या करें-स्वपक्ष सिद्धि और पर पक्ष के निराकरण में वे असमर्थ हैं तथा (त्वन्मतश्रियः) आपके मत रूपी लक्ष्मी के (अपात्रं) अपात्र हैं ॥१४॥

ते तं स्तघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी (तं) उस पूर्वोक्त (स्वघातिनं) स्वघाती दोष को (शमीकर्तुं) शमन करने के लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अनीश्वराः) असमर्थ हैं, (त्वद्विषः) आप–अनेकान्त वादी से दोष रखते हैं, (स्वहनः) अपने आपका घात करने वाले हैं, (बालाः) यथा वद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ हैं और इसीलिये (तत्वावक्तव्यतां श्रिताः) तत्त्व की अवक्तव्यता का आश्रय लेते हैं ॥१५॥

सदेक-नित्य-वक्तव्या-स्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति, पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(सदेकनित्यवक्तव्याः) सद्, एक, नित्य, वक्तव्य (च) और (तद्विपक्षाः)इनसे विपरीत असत् अनेक, अनित्य, अवक्तव्य (ये नयाः) ये जो नय हैं (ते) वे (इह) इस जगत् में (सर्वथा इति) सर्वथा रूप से (प्रदुष्यन्ति) वस्तु तत्व को अत्यधिक विकृत करते हैं–सदोष बनाते हैं और (स्यात् इति) स्यात् कथंचित् रूप से वस्तु तत्वको (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं ॥१६॥

सर्वथा नियम त्यागी, यथादृष्ट-मपेक्षकः ।
स्वाचच्छब्दस्तावके न्याये, नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(सर्वथानियमत्यागी) सर्वथा रूप नियम का त्याग करने वाला तथा (यथादृष्टसपेक्षकः) यथादृष्टप्रमाणसिद्ध वस्तु स्वरूप की अपेक्षा रखने वाला (स्वाच्छन्दः) स्यात् शब्द (तावके न्याये) आपके न्याय में है (आत्मविद्विषाम्) अपने आपके वैरी (अन्येषां) अन्य एकान्त वादियों के न्याय में (न) नहीं है ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपके मत में (अनेकान्तोऽपि) अनेकान्त भी (प्रमाणनयसाधनः) प्रमाण और नय रूप साधनों से युक्त होने के कारण (अनेकान्तः) अनेकान्त स्वरूप है। (प्रमाणात्) प्रमाण को अपेक्षा (अनेकान्तः) अनेकान्त स्वरूप है और (अर्पितात् नयात्) विवक्षित नय से (तदेकान्तः) अनेकान्त में एकान्त स्वरूप है ॥१८॥

इति निरुपमयुक्तशासनः, प्रियहितयोगगुणानुशासनः ।
अरजिन दमतीर्थनायक-स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (अर जिन) हे अर जिनेन्द्र ! आप (निरुपमयुक्तशासनः) उपमा रहित-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त शासन से सहित हैं, (प्रियहित योगगुणानुशासनः) सुख-दायक तथा फलकाल में हितकारक मन वचन काय के प्रशस्त व्यापार रूप योग और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देते वाले हैं तथा (दम तीर्थनायकः) इन्द्रिय विजय को सूचित करने वाले आगम के नायक हैं। हे नाथ ! (त्वमिव) आपके समान (सतां प्रतिबोधनाय) विद्वज्जनों को प्रतिबोध देने के लिये (अन्यः कः) दूसरा कौन है ? कोई नहीं है ॥१९॥

मतिगुणविभवानुरूपत-स्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः ।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं, मम भवताद् दुरितासनोदितम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(हे वरद) हे वर को प्रदान करने वाले अर जिनेन्द्र ! मैंने (मतिगुणविभानुरूपतः) अपनी बुद्धि के गुणों की सामर्थ्य के अनुरूप तथा आगम से प्राप्त हुई दृष्टि के अनुसार (त्वयि) आपके विषय में (गुणकृशमपि) आपके गुणों का जो कुछ थोड़ा सा (उदितं) वर्णन किया है वह वर्णन (मम) मेरे (दुरितासनोदितम्) पापों के नष्ट करने में समर्थ (भवतात्) होवे ॥२०॥

श्री मल्लिजिनस्तवनम्

यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं, प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥ १

अन्वयार्थ—(यस्य महर्षेः) जिन महर्षि के (सकल पदार्थ प्रत्यवबोधः) जीवादि समस्त पदार्थों को सब ओर से अशेष-विशेषता के साथ जानने वाला केवल ज्ञान (साक्षात्) स्पष्ट रूप से (समजनि) उत्पन्न हुआ और इसलिये जिन्हें (सामरमर्त्यं) देवों तथा मनुष्यों से सहित (सर्वमपि जगत्) सभी संसार ने (प्राञ्जलि भूत्वा) बद्धाञ्जलि होकर (प्रणिपतति स्म) प्रणाम किया। उन मल्लि जिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं ॥१॥

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव, स्वस्फुरदाभाकृत परिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा, स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥ २॥

अन्वयार्थ—(कनकमयीव) सुवर्ण से निर्मित के समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(स्वस्फुर दाभाकृत परिवेषा) अपनी देदीप्यमान आभा से समस्त शरीर में व्याप्त भामण्डल को करने वाली (यस्य मूर्तिः) जिनकी मूर्तिशरीराकृति (च) और (तत्वं कथयितु कामा) वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छुक एवं (स्यात्पदपूर्वा) स्यात्पद से सहित (यस्य) जिनकी (वागपि) वाणी भी (साधून्) भव्य जीवों को (रमयति) प्रसन्न करती है। उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं ।।२।।

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना, न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी-ज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके (पुरस्तात्) आगे (विगलित-मानाः) गलितमान हुए (प्रतितीर्थ्याः) एकान्तीवादी जन (भुवि) पृथिवी पर (न विवदन्ते) विवाद नहीं करते थे और जिनके विहार के समय (भूरपि) पृथिवी भी (प्रति पदं) डग डग पर (जात विकोशाम्बुजमृदुहासा) विकसित कमलों से कोमल हास को धारण करती हुई (रम्या) मनोहर (आसीत्) हुई थी उन मल्लिजिन को शरण को प्राप्त हुआ हूं ।।३।।

यस्यसमन्ताज्जिन शिशिरांशोः,शिष्यक साधुग्रह विभवोऽभूत्।
तीर्थमपि स्वं जनन समुद्र-त्रासितसत्वोत्तरणपथोऽग्रम् ।।४।।

अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशोः) जिन मल्लि जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा के (समन्तात्) चारों ओर (शिष्यकसाधुग्रहविभवः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिष्यसाधु रूप ग्रहों का-ताराओं का विभव (अभूत्) विद्यमान था और जिनका (स्वं) अपना (तीर्थमपि) शास्त्र भी (जनन समुद्र त्रासित सत्त्वोत्तरणपथः अग्रम्) संसार रूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों के पार उतरने का प्रधान मार्ग था उन मल्लि जिनन्द्र की शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।।४।।

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि,र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं, मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ।। ५

अन्वयार्थ—(च) और (यस्य) जिनके (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यान रूप (परम तपोऽग्निः) उत्कृष्ट तपोऽग्नि ने (अनन्तं) अन्त को प्राप्त न होने वाले (दुरितं) अष्ट कर्म रूप पाप को (अधाक्षीत्) दग्ध किया था (तं) उन (जिनसिंहं) जिनश्रेष्ठ (कृतकरणीयं) कृतकृत्य, (अशल्यं) माया मिथ्यात्वादि शल्यों से रहित (मल्लिं) मल्लि जिनेन्द्र को (शरणमितोऽस्मि) शरण को प्राप्त हुआ हूँ ।।५।।

श्री मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

अधिगतमुनिसुव्रतस्थिति, मुंनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवा,नुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ।।१।।

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनि सुव्रतस्थितिः) जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को अधिगत-सुनिश्चित अथवा प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर लिया है, जो (मुनि वृषभः) मुनियों में श्रेष्ठ हैं, और जो (अनघः) चार घातिया कर्म रूपी पाप से रहित हैं ऐसे (भवान्) आप (मुनिसुव्रतः) 'मुनिसुव्रत' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र (मुनिपरिषदि) समवसरण के बीच मुनियों की सभा में (उडुपरिषत्परिवीत सोमवत्) नक्षत्रों के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा के समान (निर्बभौ) सुशोभित हुए थे ॥१॥

परिणत-शिखि-कण्ठ-रागया,
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाभया ।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया,
ग्रह-परिवेष-रुचेव शोभितम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(कृत मद निग्रह) काम अथवा अहंकार का निग्रह करने वाले (जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! (परिणत शिखि कण्ठ रागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली (तपसः प्रसूतया) तप से उत्पन्न (तव विग्रहाभया) आपके शरीर की आभा—चारों ओर फैलने वाली दीप्ति (ग्रहपरिवेषरुचेव) चन्द्रमा के परिवेष–परिमण्डल की दीप्ति के समान (शोभित) सुशोभित हुई थी ॥२॥

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं,
सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते !
यदपि च वाङ्-मनसीय-मीहितम् ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(यते) हे महामुनिराज! (शशि रुचि शुचि शुक्ल लोहितं) चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त (सुरभितरं) अत्यन्त सुगन्धित और (विरजः) रज रहित–मल रहित जो (तव) आपका (निजं वपुः) अपना शरीर था वह (शिवं) अत्यन्त शुभ तथा (अति विस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाला (च) और (वाङ्मनसोयम्-अपि) वचन तथा मन की भी (यत् ईहितं) जो चेष्टा (तदपि) वह भी (अतिविस्मयं) अत्यन्त आश्चर्य करने वाली है ।।३।।

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं,
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन ! सकलज्ञ-लाञ्छनं,
वचनमिदं वदतास्वरस्य ते ।।४।।

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! (चरं) चेतन (च) और (अचरं) अचेतन रूप (जगत्) संसार (प्रतिक्षणं) क्षण क्षण में (स्थिति जननिरोधलक्षणं) ध्रौव्य उत्पाद और व्यय रूप लक्षण से युक्त है (इति इदं) इस प्रकार का यह जो (वदतां वरस्यते) वक्तृप्रवर आपका (वचनं) वचन है (तत्) वह (सकलज्ञलाञ्छनं) सर्वज्ञ का चिह्न है–आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है ।।४।।

दुरित-मल-कलङ्क-मष्टकं,
निरुपम-योग-बलेन निर्दहन् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभवदभव-सौख्यवान् भवान्,
भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (निरुपमयोगबलेन) अनुपम शुक्ल-ध्यान के बल से (अष्टकं) आठ प्रकार के (दुरितमलकलङ्कं) कर्म मल कलङ्क को (निर्दहन्) जलाते हुए (भवान्) आप (अभवसौख्यवान्) मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय सुख से युक्त (अभवत्) हुए हैं ऐसे आप (ममापि) मुझ समन्तभद्र के भी (भवोपशान्तये) संसार की उपशान्ति के लिये (भवतु) होवे ॥५॥

श्री नमिजिनस्तवनम्

स्तुतिः स्तोतुः साधोः, कुशल-परिणामाय स तदा ।
भवेन्मा वा स्तुत्यः, फलमपि तत-स्तस्य च सतः ॥
किमेवं स्वाधीन्या-ज्जगति सुलभे श्रायस पथे ।
स्तुयान्न त्वा-विद्वान्-सतत-मभिपूज्यं नमि-जिनं ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्तुतिः) भगवान् की स्तुति, (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (साधोः) भव्य पुरुष के (कुशल परिणामाय) पुण्य-साधक-प्रशस्त परिणाम के लिये होती है (तदा) स्तुति के काल अथवा स्तुति के देश में (सः स्तुत्यः) वह स्तुति का पात्र आरा-ध्यदेव (भवेत् मा वा) हो अथवा न हो (च) और (ततः) उस स्तुत्य से (तस्य सतः) उस स्तुति करने वाले भव्य पुरुष को (फलमपि) स्वर्गादि फल की प्राप्ति भी (भवेन्मा वा) हो अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न हो (एवं) इस प्रकार (जगति) संसार में (स्वाधीन्यात्) स्वाधीनता से (श्रायस पथे) कल्याण अथवा सम्यग्दर्शनादिमोक्ष सम्बन्धी मार्ग के (सुलभे 'सति') सुलभ रहने पर (किं) क्या (विद्वान्) विचार पूर्वक कार्य करने वाला विवेकी जन (सततं) सदा (अभिपूज्यं) इन्द्रादि के द्वारा पूज्य (त्वां नमि जिनं) आप नमि जिनेन्द्र की (न स्तुयात्) स्तुति न करे ? अवश्य करे ॥१॥

त्वया धीमन् ! ब्रह्म-प्रणिधि-मनसा जन्म-निगलं ।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्ष-पदवी ॥
त्वयि ज्ञान-ज्योति-र्विभव-किरणै-र्भाति भगवन् ।
अभूवन् खद्योता, इव शुचिरवावन्य-मतयः ॥२॥

अन्वयार्थ—(हे धीमन्) हे विशिष्ट बुद्धि से युक्त नमि जिनेन्द्र ! (ब्रह्मप्रणिधिमनसा) शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले (त्वया) आपके द्वारा (जन्मनिगलं) संसार रूपी बन्धन (समूलं) मूल-कारण सहित (निर्भिन्नं) नष्ट किया गया है इसलिये (त्वम्) आप (विदुषां) विद्वानों के लिये (मोक्षपदवी) मोक्षमार्ग स्वरूप (असि) है। (भगवन्) हे भगवन् ! (त्वयि) आपके (ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैः) केवलज्ञान ज्योति की संपदा रूप किरणों के द्वारा (भाति 'सति') सुशोभित होने पर (अन्य-मतयः) सुगत कपिल ईश्वर आदि अन्यमतावलम्बी जन (शुचि-रवौ) ग्रीष्मऋतु के सूर्य के देदीप्यमान रहने (खद्योता इव) जुगनुओं के समान (अभूवन्) हो गये थे ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधेयं वार्यं चानुभय-मुभयं मिश्रमपि तद् ।
विशेषैः प्रत्येकं, नियम विषयै-श्चापरिमितैः ।।
सदान्योन्यापेक्षैः, सकल–भुवन–ज्येष्ठ–गुरुणा ।
त्वया गीतं तत्त्वं, बहु-नय-विवक्षेतर-वशात् ।।३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा) समस्त संसार के महान् गुरु स्वरूप (त्वया) आपने (बहुनय विवक्षेतर वशात्) अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के वश (प्रत्येकं) विधि निषध, मूर्त अमूर्त, स्थलसूक्ष्म आदि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य कर (नियम विषयैः) 'भङ्ग' सात ही होते हैं हीनाधिक नहीं इस नियम के विषय भूत और (सदान्योन्यापेक्षैः) सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले (अपरिमितैः) अनन्त (विशेषैः) त्रैकालिक धर्मों के द्वारा (तत्तत्वं) उस वस्तु स्वरूप को (विधेयं) विधि-स्वरूप, (वार्यं) निषेध स्वरूप, (उभयं) विधिनिषध स्वरूप, (अनुभयं) अवक्तव्य स्वरूप (च) और (मिश्रमपि) मिश्ररूप भी–अर्थात् स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, तथा स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य इस तरहसात भङ्गरूप (गीतं) कहा है ।।३।।

अहिंसा भूतानां, जगति विदितं ब्रह्म-परमं ।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रम-विधौ ।।
तत-स्तत्-सिद्ध्यर्थं, परम-करुणो ग्रन्थ-मुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ।।४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं – हे भगवन् ! (भूतानां) प्राणियों को (अहिंसा) अहिंसा (जगति) जगत् में (परमं ब्रह्म) परम ब्रह्म रूप से (विदितं) प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु (सा) वह अहिंसा (तत्र) उस (आश्रमविधौ) आश्रम विधि में (न) नहीं है (यत्र) जिसमें कि (अणुरपि) थोड़ा भी (आरम्भः) आरम्भ होता है (ततः) इसलिये (तत्सिद्धयर्थं) उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिये (परमकरुणः) परम दयालु होकर (भवानेव) आपने ही (उभयं) बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दोनों प्रकार के (ग्रन्थ) परिग्रह को (अत्याक्षीत्) छोड़ा है (च) और (विकृत वेषोपधिरतः) यथा जात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त (न 'अभवत्') नहीं हुए हैं ॥४॥

वपु–र्भूषा–वेष–व्यवधि–रहितं शान्त–करणं ।
यतस्ते संचष्टे, स्मर-शर-विषातङ्क-विजयम् ॥
विना भीमैः शस्त्रै-रदय-हृदयामर्ष-विलयं ।
तत-स्त्वं निर्मोहः, शरणमसि नः शान्ति-निलयः ॥५॥

अन्वयार्थं—हे भगवन् ! (भूषावेषव्यवधि रहितं) आभूषण वेष तथा वस्त्रादिक के आवरण से रहित और (शान्तकरणं) अपने २ विषयों से निःस्पृह इन्द्रियों से युक्त (ते) आपका (वपुः) शरीर (यतः) चूंकि (स्मरशरविषातङ्क विजयम्) काम के बाणरूप विष से उत्पन्न व्याधि-की विजय को तथा (भीमैः शस्त्रैः विना) भयंकर शस्त्रों के बिना (अदयहृदयामर्षविलयं)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्दयहृदय सम्बन्धी क्रोध के विनाश को (संचष्टे) कह रहा है (ततः) इसलिये (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित और (शान्तिनिलयः) कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति के स्थान हैं तथा (नः) हमारे (शरणम्) शरणभूत—रक्षक (असि) हैं ।।५।।

श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

भगवानृषिः परम-योग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैःसकलं,प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः ।।१।।

हरिवंश-केतु-रनवद्य-विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।
शील जलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोजरः।।२।।

अन्वयार्थ—(भगवान्) जो विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, (ऋषिः) जो परम ऋद्धियों से सम्पन्न हैं, (परमयोग दहनहुतकल्मषेन्धनः) उत्कृष्ट शुक्लध्यान रूपी अग्नि में जिन्होंने कर्मरूपी इंधन को होम दिया है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल हैं, (हरिवंशकेतुः) जो हरिवंश के प्रधान हैं, (अनवद्य विनयदम तीर्थनायकः) जो निर्दोष विनय और इन्द्रियदमन के प्रतिपादक शास्त्र के प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) जो शील के समुद्र हैं, और (अजरः) जो वृद्धावस्था से रहित हैं ऐसे (त्वं) आप (अरिष्टनेमि जिनकुञ्जरः) अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र (ज्ञान विपुल किरणैः) ज्ञान रूप विस्तृत किरणों के द्वारा (सकलं) समस्त लोकालोक को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(प्रतिबुद्धय) प्रकाशित कर अथवा जानकर (विभवः) संसार से मुक्त (अभवः) हुए थे।

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-किरण-विसरोपचुम्बितम्।
पादयुगलममलं भवतो, विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ।३।
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाति-रुचिर-शिखराङ्गुलि-स्थलम्।
स्वार्थनियतमनसःसुधियः,प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ।४।

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (स्वार्थनियतमनसः) मोक्षरूप स्वार्थ में जिनके मन नियन्त्रित हैं (सुधियः) जो उत्तम बुद्धि से युक्त हैं और (मन्त्रमुखराः) जो 'णमो णेमिजिणाणं' इस सात अक्षर वाले मन्त्र से अथवा सामान्य स्तुति से वाचाल हैं ऐसे (महर्षयः) गणधरादि बड़े बड़े ऋषि (भवतः) आपके (तत्) उस (पादयुगलं) चरणयुगल को (प्रणमन्ति) प्रणाम करते हैं (यत्) जो कि (त्रिदशेन्द्र मौलि मणि रत्न किरण विसरोपचुम्बितम्) इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों और रत्नों की किरणों के समूह से चुम्बित हैं, (अमलं) निर्मल-उज्ज्वल हैं, (विकसत्कुशेशय दलारुणोदर) जिनका तलभाग खिले हुए कमलदल के समान लालवर्ण का है, तथा (नखचन्द्र रश्मिकवचातिरुचिर शिखरांगुलिस्थलम्) जिनकी अंगुलियों का स्थान नख रूपी चन्द्रमा की किरणों के परिवेष से अत्यन्त मनोहर अग्रभाग से सहित है।

द्युतिमद्रथाङ्ग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशु-मण्डलः।
नीलजलदजलराशिवपुः सह बन्धुभिर्गरुड़केतुरीश्वरः ।५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हलभृच्च ते स्वजन-भक्ति-मुदित हृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां, चरणारविन्द-युगलं प्रणेमतुः ।६।

अन्वयार्थ—हे भगवान ! (द्युतिमद्रथाङ्गरवि बिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) कान्तिमान् सुदर्शनचक्र रूपी सूर्य बिम्ब की किरणों से जिनकी कान्ति का मण्डल व्याप्त हो रहा है अथवा (जटिलांसमण्डलः—पाठ में) कान्तिमान् सुदर्शन चक्ररूपी सूर्य बिम्ब की किरणों से जिनके कन्धे का प्रदेश व्याप्त हो रहा है (नील जलद जलराशि वपुः) नील मेघ और समुद्र के समान जिनका श्याम शरीर है अथवा (नील जलज दल राशि वपुः—पाठ में) नील कमल के पत्रों के समान जिनका श्याम शरीर है तथा (ईश्वरः) जो तीन खण्ड पृथिवी के स्वामी हैं ऐसे (गरुड़केतुः) श्रीकृष्ण, (च) और (हलभृत्) बलभद्र इस प्रकार (स्वजन भक्ति मुदित हृदयौ) आत्मबन्धु की भक्ति से जिन के चित्त प्रसन्न हो रहे थे, (जनेश्वरौ) जो लोक के स्वामी थे और (धर्म विनय रसिकौ) जो धर्मार्थ विनय के रसिक थे—ऐसे दोनों भाईयों ने (बन्धुभिः सह) अपने अन्य भाईयों के साथ (ते) आपके, (चरणारविन्द युगलं) चरणकमलों के युगल को (सुतरां) बार बार (प्रणेमतुः) प्रणाम किया था ।

ककुदं भुवः खचर-योषि-दुषित-शिखरै-रलङ्कृतः ।
मेघपटलपरिवीत तटस्तव,लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहतीति तीर्थ-मृषिभिश्च, सतत-मभिगम्यतेद्य च ।
प्रीतिविततहृदयैः परितो, भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोचलः ।८।

अन्वयार्थ—(भुवः ककुद्म्) जो पृथिवी का ककुद है—बैल के कन्धे के समान ऊंचा तथा शोभा उत्पन्न करने वाला है, (खचरयोषितर्शिखरैः) जो विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों के द्वारा (अलंकृतः) सुशोभित है, (मेघ पटल परिवीततटः) जिसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं (वज्रिणा लिखितानि तव लक्षणानि वहति-इति तीर्थं) जो इन्द्र के द्वारा लिखे हुए (हे नेमिजिन !)आपके चिह्नों को धारण करता है इसलिये तीर्थ स्थान है,(सततं अद्य च) हमेशा तथा आज भी (प्रीतिविततहृदयैः) प्रीति से विस्तृतचित्तवाले (ऋषभिश्च) ऋषियों के द्वारा जो(परितः) सब ओर से (भृशं)अत्यधिक (अभिगम्यते) सेवित है (इति) ऐसा वह (विश्रुतः) अतिशय प्रसिद्ध (ऊर्जयन्तः अचलः) ऊर्जयन्त नाम का पर्वत है (जिस पर जाकर कृष्ण और बलराम ने आपके चरण कमल युगल को प्रणाम किया था) ।

बहिरन्तरप्युभयथा च, करण-मविघाति नार्थकृत् ।
नाथ! युगपदखिलं च सदा,त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ।९।
अत एव ते बुध-नुतस्य, चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने, त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ।।

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् ! (त्वं) आप (इदं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अखिलं) इस समस्त संसार को (युगपत् च सदा) एक साथ और सर्वदा (तला मलकवत्) हस्ततल पर रखे हुए स्फटिक के समान जानते हैं तथा आपक इस जानने में (बहिः) बाह्य=(और) (अन्त रपि) अभ्यन्तर (करणं) इन्द्रिया पृथक् पृथक् (च उभयथा) और दोनों प्रकार से (अविघाति) बाधक नहीं हैं एवं (अर्थकृत् न) उपकारक भी नहीं हैं (अतएव) इसीलिये (बुधनुतस्य) विद्वानों क द्वारा स्तुत (ते) आपके (अद्भुतोदयम्) आश्चर्य कारक अभ्युदय से युक्त तथा (न्याय विहितं) न्याय सिद्ध—आगम ज्ञान से सिद्ध (चरितगुणं) स्वकार्य की प्रसाधकता का (अवधार्य) निश्चय कर (वयं) हम (सुप्रसन्नमनसः) अत्यन्त प्रसन्न चित होते हुए (त्वयिजिने) आप जिनेन्द्र में (स्थिताः) स्थित हुए हैं आपके कार्य का साधक समझ आपकी शरण में आये हैं।

श्री पार्श्वजिनस्तवनम्

तमाल नीलैः सधनु-स्तडिद्गुणैः,
प्रकीर्ण-भीमाशनि-वायु-वृष्टिभिः ।
बलाहकै-र्वैरि-वशैरुपद्रुतो,
महामना यो न चचाल योगतः ॥१॥

अन्वयार्थ—(तमाल नीलैः) तमाल वृक्ष के समान नील-वर्ण, (सधनुस्तडिद्गुणैः) इन्द्र धनुषों की बिजली रूप डोरियों से सहित, (प्रकीर्ण भीमाशनि वायुवृष्टिभिः) भयंकर वज्र आंधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वर्षा को बिखेरने वाले ऐसे (वैरिवशैः) शत्रु के वशीभूत (बलाहकैः) मेघों के द्वारा (उपद्रुतः) उपद्रुत होने पर भी (महामनाः) उत्कृष्ट धैर्य के धारक (यः) जो पार्श्वनाथ भगवान् (योगतः) शुक्लध्यान रूप योग से (न चचाल) विचलित नहीं हुए थे ॥१॥

बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन यं,
स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं,
विराग-संध्या-तडिदम्बुदो यथा ॥२॥

अन्वयार्थ—(उपसर्गिणं) उपसर्ग से युक्त (यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (धरणो नागः) धरणेन्द्र नामक नागकुमार देव ने (स्फुरत्तडित्पिङ्गरूचा) चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त (बृहत्फणामण्डलमण्डपेन) बहुत भारी फणामण्डल रूपी मण्डप के द्वारा (तथा) उस तरह (जुगूह) वेष्टित कर लिया था (यथा) जिस तरह कि (१ विराग संध्या तडिदम्बुदः) काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ (धराधरं) पर्वत को वेष्टित कर लेता है ॥२॥

---

१ 'विराग संध्या तडिदुम्बुदः' का एक अर्थ यह भी है—विविध रङ्गों वाली संध्या के समान बिजली से युक्त मेघ, अथवा विविध रङ्गों वाली संध्या के समय बिजली से सहित मेघ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया,
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्य-मचिन्त्य-मद्भुतं,
त्रि-लोक-पूजातिशयास्पदं पदम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने (स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया) अपने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारा के द्वारा (दुर्जय-मोहविद्विषम्) मोह रूपी दुर्जय शत्रु को (निशात्य) नष्ट कर (अचिन्त्यं) अचिन्तनीय, (अद्भुतं) आश्चर्यकारक गुणों से युक्त, (त्रिलोकपूजातिशयस्पदं) त्रिलोक की पूजा के अतिशय के स्थान (आर्हन्त्यं पदम्) आर्हन्त्य पद को (आवापत्) प्राप्त किया था ॥३॥

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं,
तपोधना-स्तेपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-बुद्धयः,
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥

अन्वयार्थ—(यं) जिन पार्श्वनाथ भगवान् को (ईश्वरं) समस्त लोक के ईश्वर तथा (विधूतकल्मष) घातिचतुष्क रूप पाप से रहित (वीक्ष्य) देख कर तथा (बुभूषवः) उन्हीं के समान होने के इच्छुक (वनवासिनः) वनवासी (ते तपोधनाः अपि) वे तपस्वी भी (स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः) अपने प्रयास में निष्फल बुद्धि होते हुए (शमोपदेशं) मोक्ष मार्ग अथवा शान्ति का उपदेश देने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाले भगवान् पार्श्वनाथ की (शरणं प्रपेदिरे) शरण को प्राप्त हुए थे ॥४॥

स सत्य-विद्या-तपसां-प्रणायकः,
समग्रधी-रुग्र-कुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्व-जिनः प्रणम्यते,
विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ॥५॥

अन्वयार्थ — (सत्यविद्या तपसां प्रणायकः) जो सत्य विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता थे, (समग्रधीः) जो पूर्ण केवल ज्ञान के धारक थे (उग्रकुलाम्बरांशुमान्) जो उग्र वंश रूपी कुल के चन्द्रमा थे, और (विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः) जिन्होंने मिथ्या मार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों से उत्पन्न विभ्रमों को नष्ट कर दिया था (सः) वे (पार्श्वजिनः)पार्श्वजिनेन्द्र (मया) मुझ समन्तभद्र के द्वारा (सदा) हमेशा (प्रणम्यते) प्रणत किये जाते हैं—मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ॥५॥

श्री वीरजिनस्तवनम्

कीर्त्या भुवि भासि तया,
वीर ! त्वं गुण-समुत्थया भासितया ।
भासोडु-सभासितया,
सोम इव व्योम्नि कुन्द-शोभासितया ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(हे वीर !) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (त्वं) आप (भुवि) पृथिवी पर (गुणसमुच्छ्रया) आत्मा और शरीर सम्बन्धी गुणों से उत्पन्न (भासितया) सुशोभित अथवा उज्जवल (तया) उस (कीर्त्या) ख्याति से (उडुसभासितया) नक्षत्रों की सभा में आसित-स्थित एवं (कुन्दशोभासितया) कुन्दकुसुम की शोभा के समान सफेद (भासा) कान्ति से (व्योम्नि) आकाश में (सोम इव) चन्द्रमा के समान (भासि) सुशोभित होते हैं ।।१।।

९२+९५

तव जिन ! शासन-विभवो,
जयति कलावपि गुणानुशासन-विभवः ।
दोष-कशासन-विभवः, ९२
स्तुवन्ति चैनं प्रभा कृशासन-विभवः ।।२।।

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे वीर जिनेन्द्र ! (गुणानुशासन-विभवः) भव्यजीवों के भव को नष्ट करने वाला (तव) आपके (शासनविभवः) प्रवचन का यथावस्थित समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप सामर्थ्य (कलावपि) कलिकाल में भी (जयति) जयवन्त है—सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है (च) और (प्रभाकृशासनविभवः) प्रभा-ज्ञानादितेज से आसनविभुओं-लोक के तथाकथित हरि हरादि स्वामिओं को कृशमहत्वहीन करने वाले (दोषकशासनविभवः) दोष रूप चाबुकों के निराकरण करने में समर्थ गणधरादि देव (एनं) आपके इस शासन विभव की-प्रवचन सामर्थ्य की (स्तुविन्त) स्तुति करते हैं ।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनवद्यः स्याद्वाद-स्तव

दृष्टेष्टा विरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो,
सद्वितय-विरोधान्-मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हे मुनीश्वर) हे मुनिनाथ! (स्याद्वादः 'स्यात्') इस कथंचित् अर्थ के वाचक शब्द से सहित (तव) आपका (स्याद्वादः) स्यादस्तीत्यादि अनेकान्त रूप कथन (दृष्टेष्टा-विरोधतः) प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध न होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष है। इसके विपरीत अस्याद्वादः) 'स्यात्' इस शब्द से रहित (इतरः) अन्य जो (वादः) एकान्त रूप कथन है (सः) वह (द्वितय विरोधात्) दृष्ट और इष्ट–प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण (अनवद्यः) निर्दोष (न) नहीं है ॥३॥

त्वमसि सुरासुर-महितो,
ग्रन्थिक-सत्त्वाशय-प्रणामाऽमहितः ।
लोक-त्रय-परम-हितो,
ऽनावरण-ज्योति-रुज्ज्वलद्धाम-हितः ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवान्! (त्वम्) आप (सुरासुरमहितः) सुरों तथा असुरों से पूजित हैं, किन्तु (ग्रन्थिक सत्वाशय प्रणाम-महितः) मिथ्यादृष्टि प्राणियों के अभक्त हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं, आप (लोकत्रय परमहितः) तीनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकों के परम हितकारी हैं, और (अनावरण ज्योतिरुज्ज्वलद्धाम हित:) और केवल ज्ञान से प्रकाशमान मुक्ति रूप स्थान को प्राप्त है ।।४।।

सभ्याना-मभिरुचितं,
दधासि गुण-भूषणं श्रिया चारु-चितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचितं,
जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम् ।।५।

अन्वयार्थ—हे भगवान् आप (सभ्यानां) समवसरण सभा में स्थित भव्यजीवों के (अभिरुचितं) रुचिकर, तथा (श्रिया) अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से (चारु चितं) सुन्दरता पूर्वक व्याप्त (गुणभूषणं) गुणों के भूषण को अथवा गुणरूप आभूषण को (दधासि) धारण करते हैं, (च) और (स्वकान्त्या) अपनी कान्ति के द्वारा (स्वस्यां रुचि) स्वकीय कान्ति में (मग्नं) निमग्न, (रुचितं) सुन्दर (तं मृगलाञ्छनं) उस चन्द्रमा को (जयसि) जीतते हैं ।।५।।

त्वं जिन ! गद-मद-माय-
स्तव भावानां मुमुक्षु-कामद ! मायः ।
श्रेयान् श्रीमदमाय-स्त्वया
समादेशि सप्रयाम - दमाद्य: ।।६।।

अन्वयार्थ—(मुमुक्षु कामद !) हे मोक्षाभिलाषी जीवों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोरथ को देने वाले (जिन !) वीर जिनेन्द्र ! (त्वं) आप (गतमदमायः) गर्व और माया से रहित हैं तथा (तव) आपका (भावानां) जीवादि पदार्थ विषयक (मायः) केवल ज्ञान अथवा आगम रूप प्रमाण (श्रेयान्) अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा प्रशंसनीय है। हे भगवान् ! (त्वया) आपने (श्रीमदमायः) लक्ष्मी के मद को नष्ट करने वाला अथवा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली श्रीलक्ष्मी से युक्त और माया से रहित (स प्रयाम दमायः) श्रेष्ठ एवं प्रशस्त इन्द्रिय विजय का (समादेशि) उपदेश दिया है ॥६॥

गिरि-भित्त्यवदान-वतः,
श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।
तव शम-वादानवतो,
गत - मूर्जित - मपगत - प्रमादानवतः ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! (गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमतः स्रवद्दानस्य दन्तिनः इव) जिस प्रकार पहाड़ की कटनीयों में पराक्रम से युक्त अर्थात् उनका विदारण करने वाले उत्तम जाति विशिष्ट तथा झरते हुए मद से सहित हाथी का (ऊर्जितं) बल शाली अर्थात् रुकावट से रहित (गतं) गमन होता है उसी तरह (शमवादान अवतः) दोषों के उपशमन का उपदेश देने वाले शास्त्रों के रक्षक तथा (अपगतप्रमादान वतः) अभयदान से युक्त (तव) आपका (अर्जितं) उत्कृष्ट (गतं) गमन-बिहार हुआ था ।७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहु-गुण-सम्पद-सकलं,
पर-मतमपि मधुर-वचन विन्यास-कलम् ।
नय-भक्त्यवतंस-कलं,
तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(हे देव !) हे वीर जिन देव ! (परमतं) अन्य एकान्त वादियों का शासन (मधुर–वचन विन्यासकलम् अपि) कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी (बहुगुण सम्पदसकलं) अत्यधिक गुण रूप सम्पत्ति से विकल है परन्तु (तव) आपका (मतं) शासन (नय भक्त्यवतंसकलं) नैगमादि नयों से उत्पन्न स्यादस्तीत्यादि भङ्ग रूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा नयों की उपासना रूप कर्णाभरण को देने वाला है, (समन्तभद्रं) सब ओर से कल्याण कारक है और (सकलं) पूर्ण है ॥८॥

... जैन (शोध) संस्थान
4583

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi